भागवती कथा —

अभयदाता भगवान्

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीमद्भागवतदर्शन—

भागवती-कथा

(अष्टदश-खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती-कथा' ॥

—:o:—

लेखक
श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

— o —

प्रकाशक—
सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूँसी) प्रयाग

—※—

संशोधित मूल्य २-०० रुपये

तृतीय संस्करण 1000 प्रति] मार्गशीर्ष—२०२१ विक्र० [मू० १-२५ पै०

हिन्दी और अङ्गरेजी-विद्यालयों के अध्यापकों से

"भागवती-कथा" उत्तरप्रदेश (राज्य मे) पाठशाला-पुस्तकालयों के लिये स्वीकृत है। स्वयं—सरकार तीनसौ-प्रतियाँ, सब खण्डो की खरीदती है। मध्यप्रान्त की शिक्षा-संस्थाओं के लिये भी राज्य-सरकार से स्वीकृत है! अतः विद्यालयो के पुस्तक-विभाग के अधिकारियो को यह अनुपम-पुस्तक अवश्य मँगानी चाहिये और जिन प्रान्तोंमें अभी स्वीकृत नहीं है उनमे भी स्वीकृत कराने के लिये उद्योग करना चाहिये। 'भागवती-कथा' कैसी है? इसे पाठकों को क्या बताना वे तो पढ़ते-ही हैं!

व्यवस्थापक—संकीर्तन-भवन झूँसी, प्रयाग

विषय-सूची

चित्र-सूची

दधीचि-मुनि की अस्थि के वज्र से वृत्रासुर का वध

(४१४)

वज्रस्तु तत्कन्धरमाशुवेगः–
कृन्तन्समन्तात्परिवर्तमानः ।
न्यपातयत्तावदहर्गणेन–
यो ज्योतिषामयने वार्त्रहत्ये ॥❀
(श्रीभा० ६ स्क० १२ अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

आके बाहिर इन्द्र असुर के सिर कूँ काटें ।
वज्र, वेग तैं घुसैं असुर की अस्थि न फाटें ॥
सबरी शक्ति लगाय करयो धड़ सिर ते न्यारो ।
एक वर्ष यों लग्यो मरयो पुनि वृत्र विचारो ॥
मुनि दधीचि की अस्थि ते, वज्र बन्यो सुर-रिपु मरयो ।
अब चरित्र अगिलो सुनो, जो दधीचि पत्नी करयो ॥

महत्-पुरुषों के चरित्र महान ही होते हैं। वे, जिस कार्य को भी करते हैं उसे सुचारु-रूप से करते हैं। उनका हर्ष और कोप

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब वृत्रासुर के वध का योग उपस्थित हुआ तब इन्द्र ने अपने वेगशाली तीक्ष्ण-वज्र को सब ओर घुमाते हुए उसके मस्तक को भूमि पर गिरा दिया । उसका सिर काटने

दोनों ही व्यर्थ नहीं होते ! वे, निग्रह—अनुग्रह दोनों मे ही समर्थ होते हैं। परोपकार के लिये सब कुछ कर डालना यह साधुओं का स्वभाव होता है। हर्ष-शोक में सर्वत्र समभाव से अवस्थित रहना यही ज्ञानियो का चिन्ह होता है। पति के पीछे, पुत्र प्राण सभी का मोहत्याग कर उन्हीं के पथ का अनुसरण करना, उन्हीं के शरीर के साथ भस्म हो जाना, यह पतिप्राणा-पतिव्रताओं का स्वभाव होता है ! अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए उचित-अनुचित का कुछ भी विचार न करके जैसे हो वैसे अपनी कार्य-सिद्धि कर लेना यह स्वार्थ परायण पुरुषों का ध्येय होता है। यथार्थ में धन्य तो वही है जिसके हृदय में भगवत्-भक्ति है। वह चाहे फिर जिस योनि मे हो—जिस अवस्था मे हो, पूजनीय है—वन्दनीय है—स्मरणीय और अभिनन्दनीय है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! वृत्रासुर का पेट फाड कर इन्द्र बाहर निकल आये, इतने पर भी वृत्रासुर मरा नहीं ! उसके दोनों हाथ कट गये, पेट फट गया, फिर भी वह विन्ध्याचल-पर्वत के समान पडा था। कदरा के समान उसका मुख फटा हुआ था और इन्द्रधनुष के समान उसकी जिह्वा निकली हुई थी। देवेन्द्र ने अपना अमोघ वज्र लेकर उसके सिर को काटना आरभ किया, किन्तु वह क्यों कटने लगा ! उसकी अस्थियाँ तो वज्र के समान दृढ और अभेद्य थीं। इन्द्र ने भगवान का नाम लेकर चारों ओर घूम घूमकर बडे-कष्ट से सम्पूर्ण बल लगा कर उसे काटना आरभ किया। उस असुर के सिर के काटने मे

में इन्द्र को उतना ही समय लगा जितना सूर्यादि-ग्रहो की उत्तरायण और दक्षिणायण-रूप गति में लगता है, अर्थात् हमलोगों का पूरा एक वर्ष।

उन्हे अपने दिनमान से एक दिन और [illegible]
गया, अर्थात् हम मनुष्यों के दिनों से पूरे एक वर्ष [illegible]
सिर कट पाया। जब वृत्रासुर का सिर धड़ से [illegible]
तो देवताओं के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। [illegible]
दुदुभी लेकर अपने-अपने विमानों पर चढ़कर [illegible]
दुदुभी बजाने लगे। ऋषि-महर्षि, वेद के मन्त्रों से [illegible]
सुरेन्द्रकी स्तुति करने लगे। अप्सरायें नृत्य करने लगीं, [illegible]
गाने लगे। दसों-दिशाओं में आनन्द छा गया।

जहाँ पर वृत्रका सिर,इन्द्र अपने वज्रसे काटरहे थे वहीं [illegible]
शख, चक्र, गदा, पद्मधारा-वनमाली खडे हँस रहे थे। [illegible]
वृत्रासुर, मरण के समय एकटक-भाव से अपने इष्टदेव-श्याम-
सुंदरको स्नेहपूर्वक निहार रहे थे। उन्हें न हर्ष था और न विषाद।
अपने स्वामी के दर्शनों से, उनके मंगलमय-नाम के स्मरण में
उन्हे तनिक भी कष्ट प्रतीत नहीं हुआ। आकाश में सिद्ध,चारण,
गधर्व इस विचित्र-दृश्य को देख रहे थे। सभी ने प्रत्यक्ष देखा
कि, वृत्रासुर के शरीर से एक परम प्रकाशमय-ज्योति निकल
कर सर्वलोकातीत-भगवान-वासुदेव के शरीर में उसी प्रकार
विलीन हो गई—जैसे वर्षाकाल में बिजली चमककर आकाशमें
विलीन हो जाती है। इस प्रकार वृत्रासुर ने भगवान की भक्ति से
शरीर त्याग करके सद्गति पाई। वे जन्म-मरण से छूट कर
विमुक्त हो गये। उन्होंने [illegible] और [illegible]
के कारण वह पद प्राप्त किया—जहाँ जाकर फिर कोई [illegible]
में लौटकर नहीं आता।

कथा सुनकर तो हमारे रोंगटे खड़े हो गये। यदि वे-महर्षि अपने शरीर को न देते तो निश्चय ही किसी भी प्रकार वृत्रासुर न मारा जाता! किन्तु एक बात तो आपने अधूरी ही छोड़ दी। आपने कहा था—"देवता जब दधीचि मुनि से उनकी अस्थि माँगने गये, तब उनकी पतिव्रता-पत्नी पानी भरने सरिता के किनारे गई थी। देवता डर रहे थे कि, कहीं मुनि-पत्नी आ जायँगी तो सब गुड़-गोवर हो जायगा! वह कभी मुनिको शरीर त्याग न करने देंगी। देवताओं के आग्रह पर मुनि ने पत्नी के आने से पूर्व ही शरीर त्याग कर दिया और विश्वकर्मा ने क्षणभर में ही उनकी अस्थियों से वज्र तथा अन्य-अस्त्रों को बना लिया और शीघ्र ही वहाँ से सब देवता चलते बने।" देवताओं के चले जाने पर मुनि-पत्नी लौटीं तो उन्होंने क्या किया? इस बात को सुनने के लिये हमें बड़ा कुतूहल हो रहा है।

इतना सुनते ही सूतजी बड़े प्रसन्न हुए और अत्यंत ही आनन्द प्रदर्शित करते हुए वे कहने लगे—"मुनियो! आप जैसे श्रोताओं को पाकर मैं धन्य हुआ—कृतार्थ हुआ! मेरा कथा कहनेका कार्य सफल हुआ। इतने कथा-प्रसंग में तो मैं उस प्रसंग को सर्वथा भूल ही गया था। आपकी स्मरण-शक्ति की बलिहारी है, जो आप उसे नहीं भूले। अच्छी बात है; मैं उस प्रसंगको ही आपको सुनाता हूँ—आप सावधानी के साथ श्रवण करें।

हाँ-तो, देवता अपना स्वार्थसिद्ध करके—मुनिकी अस्थियों से अस्त्रशस्त्र बनाकर—दधीचि-मुनि के आश्रम से चले आये। पीछे दधीचि-मुनि की पत्नी अपने वस्त्रोंको धोकर, बछड़ों को न्हिलाकर, पानी भरकर और भगवती-गौरीका पूजन करके आश्रम पर लौटीं। आज उन्हें आश्रम सूना-सूना सा श्रीहीन दिखाई दिया। वहाँ के पशु-पक्षी उदास थे, हरिण आदि रो रहे थे, वृक्षों के पल्लव मुर-

भाये हुए थे। अग्निहोत्र के अग्निदेव तेजहीन से प्रतीत होते थे। प्रहर-भर में ही आश्रम का इतना परिवर्तन देखकर पतिप्राणा-गर्भास्तिनी को बड़ा आश्चर्य हुआ! उसने अपने पति को नहीं देखा तब तो उसने अग्निहोत्र की अग्नि से ही पूछा—"हे अग्नि-देव! तुम सबके शुभाशुभ के साक्षी हो, सब बातें जानते हो, मेरे पति कहाँ चले गये? तुम मुझे सत्य-सत्य सब समाचार सुना दो।" पतिव्रताके प्रभावसे अग्निदेव चुप न रह सके, वे मूर्तिमान होकर बोले—'देवि! तुम्हारे पति ने अक्षयलोक को प्राप्त किया है, उन्होंने परोपकार के लिये—देवताओं के हितार्थ हँसते-हँसते प्राणों का उत्सर्ग किया है। संसार में उनका यह परोपकार—भय-त्याग सर्वश्रेष्ठ समझा जायगा। तुम्हारे पति शरीर विहीन होने पर भी अमर हो गये हैं।"

अग्नि के मुख से सभी समाचार सुनकर सती का हृदय भर आया। जिसके पति ही देवता हैं, पति के पादपद्मों में ही जिनकी सदा—सर्वदा रति है, पति ही जिनकी गति हैं ऐसी पतिव्रताओं के लिए पतिवियोग से बढ़कर दूसरा कोई दुख नहीं! रोते-रोते उस गर्भास्तिनी ने कहा—"देवताओं को शाप देने की मेरी सामर्थ्य नहीं है। सामर्थ्य होती तो भी मैं उन्हें श्राप न देती। मेरे पति ने इस क्षणभंगुर-नाशवान-शरीर का मोह नहीं किया! उन्होंने अपनी कीर्तिको अजर-अमर बना लिया, उन्होंने उस दिव्य-अक्षय-लोक को प्राप्त करलिया जिन्हें बड़े-बड़े राजसूय अश्वमेध-याज्ञी भी प्राप्त नहीं कर सकते। वह पाँच-भौतिक क्षणभंगुर-शरीर तो एक दिन नाश होने ही वाला है; इसका विनाश तो अवश्यम्भावी है! मेरे पतिने इसका उपयोग महान कार्य में किया। संसार में वे लोग धन्य-धन्य हैं जो—गौ, ब्राह्मण तथा देवताओं के लिये अपने प्राणों तक को उत्सर्ग कर देते हैं। मैं भी अपने पति के

पथ का अनुसरण करूँगी। परलोक मे पहुँचकर उनके पाद-पद्मों को प्रसन्नतापूर्वक पकडूँगी। मैं भी अब सती हूँगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! ऐसा निश्चय करके दधीचि-पत्नी ने अग्निहोत्र की अग्नि को प्रणाम किया, गौओं के बछड़ों को हरिन तथा पशु-पक्षियों को प्यार किया। वृक्षों का आलिंगन किया और वे अपने पति के रोम, चर्म, अग्निहोत्र के पात्र और वल्कल-नखों को लेकर सती होने के लिये उद्यत हुईं। स्वयं ही वन से वह काष्ठ चुन लाईं, बड़ी-सी चिता बनाई।

अब उसके सम्मुख एक धर्म-संकट उपस्थित हुआ। उसके पेट मे मुनि के वीर्य से स्थापित अमोघ-गर्भ था। वह तो पति का *न्यासभूत था। गर्भिणी-नारी* को सती होने का विधान नहीं है, किन्तु गर्भास्तिनी अपने पति के बिना क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकती है! यद्यपि गर्भ के दिवस प्रायः पूरे हो चुके हैं, किन्तु प्रसव में अभी विलम्ब है। अतः उसने स्वयं ही अपने उदर को विदीर्ण किया, उसमें से दधीचि-मुनि के सदृश रूप-रंग और तेजवाला एक पुत्र निकला। उसे माता ने गोदी में लेकर प्यार किया। बार-बार उस अबोध-शिशु का मुख चूमा और वन के देवी-देवताओं तथा दसो-दिशाओं को सुनाती हुई *वह गद्गद्-वाणी में बोली*—"जो यहाँ सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, तारे, बन के देवी-देवता, मृग, पशु-पक्षी, वृक्षों के अधिष्ठातृ-देवता हों वेसब मेरी बात सुनें। मैं अपने पति से विहीन होकर इस अवनि पर एक क्षण भी रहना नहीं चाहती! मैं अपने पति के पीछे-पीछे परलोक प्रस्थान कर रही हूँ। यह बालक अनाथ है, मातृहीन है, इसके कोई कुटुम्बी—सगे सम्बन्धी भी नहीं हैं। अतः इस अनाथ बालक की हे वृक्षों के अधिष्ठातृ देवताओं तुम्हीं रक्षा करना। अनाथ-बालकोंकी रक्षा

करना परमधर्म है। मैं इस अबोध बालक को इसके भाग्य पर ही छोड़कर पति के पीछे-पीछे जा रही हूं।

गर्भास्तिनी की ऐसी करुणा भरी वाणी सुनकर आश्रम के सभी प्राणधारी जीव-जन्तु रोने लगे। जिन पक्षियों को मुनि और मुनि पत्नी ने पुत्र की भाँति पाला था, जिन्हें नीवार खिला-खिला कर जिलाया था, जिन हरिजनों को थपकियाँ दे-देकर खिलाया था, जिन पौधों को बड़ी सावधानी से पक्तियद्ध लगाया था, आज वे अपने माता पिता के सदृश दधीचि और गर्भास्तिनी से रहित होकर रोने लगे। सभी माता के वियोग में विकल होकर सिसकियाँ भरने लगे।

गर्भास्तिनी ने उस सद्य प्रसूत शिशु को एक अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष के कोटर में रख दिया और वह अपने पति की अवशिष्ट-वस्तुओं को साथ लेकर अग्नि मे प्रवेश कर गई—सती हो गई! इधर आश्रम के वृक्षों के अधिष्ठातृ-देवों ने अपने राजा—चन्द्रमा से कहा, चन्द्रमा ने अपनी अमृतमयी-किरणों से उस शिशु को जिलाया। कुछ दिनों मे बालक बड़ा हो गया, वह पीपल के ही नीचे रहता—पीपल के ही फलों को खाकर निर्वाह करता। अतः ससार मे वह बड़ा तेजस्वी-पिप्पलाद नाम का महर्षि हुआ।

पिप्पलाद ने जब अपने माता-पिता की मृत्यु का समाचार सुना तो उसे देवताओं पर अत्यत क्रोध आया। उसने सोचा—"इन देवताओं ने अपने क्षुद्र-स्वार्थ के लिये मेरे पिता के जीवन को नष्ट कर दिया—मुझे जन्म से ही मातृ-पितृहीन कर दिया। अतः मैं देवताओं से बदला लूँगा। देवताओं को उनकी क्रूरता का फल चखाऊँगा, मैं भी उन्हें मारकर यमसदन हूँ"
ऐसा निश्चय करके उसने आशुतोषभगवान

आराधना की। एक तो भोलानाथ वैसे ही 'आशुतोष-औघड़ दानी हैं' दूसरे उस मातृ-पितृ विहीन बालक की करुण पुकार सुन कर शीघ्र ही द्रवीभूत हो गये और उसके सम्मुख प्रकट होकर उससे वरदान माँगने को कहा। उसने कहा—"जिन देवताओं ने मेरे पिता को अन्याय से मार डाला है उन्हें मारने के लिये मुझे शक्ति दीजिये।" भोलेबाबा ने कहा—'तथास्तु, अच्छी बात है ऐसा ही होगा।" इतना कहकर शिव ने एक भयंकर कृत्या उत्पन्न की। उस कृत्याने पिप्पलाद मुनिसे कहा—"बताइये मैं आपका कौन सा कार्य करूँ ?"

इस पर पिप्पलाद मुनि ने कहा—"तू उन सब देवताओं को मार डाल जिन्होंने मेरे पिता की स्वार्थवश देह-अपहरण की है।" इतना सुनते ही कृत्या देवताओं के ऊपर दौड़ी। देवताओं में भगदड़ मच गई। सर्वत्र हाहाकार होने लगा। देवता दौड़े-दौड़े भवानीपति-शङ्कर के समीप आये और अनुनय-विनय करके उनसे बोले—"महाभाग! आप पिप्पलाद को समझा दें नहीं तो हम सबके सब मारे जायेंगे।"

शिवजी ने भी सोचा, बात का बढ़ाना ठीक नहीं। दधीचि-मुनि ने स्वयं ही परोपकार के लिये हँसते-हँसते प्राणों का उत्सर्ग किया था। अतः शिवजी ने परोपकार का महत्व बताते हुए पिप्पलाद को सब प्रकार से समझा दिया। शिवजी के सममाने पर पिप्पलाद भी शान्त हो गये, कृत्या शान्त हो गई। देवता प्रसन्न हुए! स्वर्ग से पिप्पलाद के माता-पिता दिव्य-विमान पर चढ़कर अपने यशस्वी-पुत्र को आशीर्वाद देने आये। पिप्पलाद की कृपा से ही वहाँ पिप्पलेश्वर-शिव की स्थापना हुई और तभी से यह गङ्गा-तट पर परम पावन-तीर्थ बन गया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह मैंने अत्यंत संक्षेप में दधीचि-मुनि की पत्नी और उनके पुत्र पिप्पलाद का 'इतिवृत्त' सुनाया; अब आप मुझसे और क्या सुनना चाहते हैं ?"

इस पर शौनकजी ने कहा—"हाँ-तो, महाभाग ! वृत्रासुर को मारकर फिर इन्द्र ने क्या किया ? फिर उनके पुरोहित कौन हुए इस बात को और बताइये !"

इस पर सूतजी बोले—"मुनियो ! वृत्र के मारने से जिस प्रकार इन्द्र को पुनः ब्रह्महत्या लगी—उस अत्यंत रोचक पुण्यमय उपाख्यान को मैं आप सबको सुनाता हूँ आप इसे कान-खोलकर श्रवण करें।"

छप्पय

लै दधीचि की अस्थि गये सुर अति हरषाई।
इत मुनि पत्नी न्हाइ-धोइ आश्रम महँ आई॥
सब सुनि काढ्यो पेट, पुत्र तजि सती भई पुनि।
पीपल पाले पुत्र भये ते पिप्पलाद-मुनि॥
पिप्पलाद-मुनि सुरनि पै, कोप शंभु वर तें कियो।
सुरनि सरन शिव लीनई, रुद्र शांत मुनि करि दियो॥

इन्द्र को पुनः ब्रह्महत्या

(४१५)

तां ददर्शानुधावन्तीं चाण्डालीमिव रूपिणीम् ।
जरया वेपमानाङ्गीं यक्ष्मग्रस्तामसृक्पटाम् ॥*
(श्री भा० ६ स्क० १३ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

त्वष्टा दूसरतनय वृत्र, यों मारयो सुरपति ।
वृत्रासुर के मरत भये मुनि देव सुखी अति ॥
मारयो ब्राह्मण-पुत्र ब्रह्महत्या पुनि आई ।
चाण्डालिनि अति मलिनि इन्द्र के ऊपर धाई ॥
डरे इन्द्र तहँ ते भगे, अति व्याकुल मन महँ भये ।
मिली सरन जब कहूँ नहिं, मानस-सर महँ घुसि गये ॥

पुण्य और पाप प्रगट करने से कुछ काल में नष्ट हो जाते हैं। हमने कोई यज्ञ, दान, व्रत अथवा शुभकर्म किया—हम अपने ही मुख से चारों ओर उसका विज्ञापन करते फिरें—अपनी प्रशंसा स्वयं ही करें कि हमने यह किया वह किया ! तो उस

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! वृत्रासुर के मर जाने पर इन्द्र ने देखा चाण्डालिनी के समान रूप बनाये हुए प्रत्यक्ष ब्रह्महत्या उनकी ओर चिपटने के लिये दौड़ी चली आ रही है। वृद्धावस्था के कारण उसका शरीर काँप रहा है, उसे क्षय रोग हुआ है, उसके वस्त्र मासिकधर्म के रक्त में सने हुए हैं।"

पुण्य का परलोक मे कोई फल नही होता। यहाँ जो कुछ दिन साधु-साधु हुई; प्रशंसा फैली वह फल भी समाप्त हो गया। इसी प्रकार पाप की बात है! पाप करके हम स्वयं उसे सब पर प्रगट कर दे, उस पाप के करने से लज्जा का अनुभव करें, पश्चात्ताप के कारण किसी को मुँह दिखाने मे भी संकोच करे और हृदय से—पश्चात्ताप पूर्वक भगवान से—उसके लिये क्षमायाचना करें तो वह पाप भी नष्ट हो जाता है। पापी की जो निन्दा करते हैं, उसके पापों को बढ़ा-चढ़ाकर उसे अपमानित करने की भावना से सर्वत्र कहते फिरते हैं, उन निन्दकों पर पापी का पाप चला जाता है। अतः पाप करके उसे सब पर प्रगट कर देना चाहिये, हृदय से उसके लिये पछताना चाहिये और कभी भूलकर भी किसी की निन्दा न करनी चाहिए।

श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन्! वृत्रासुर के मर जाने पर देवता, गन्धर्व, लोकपाल, मनुष्य, तिर्यक् सभी तीनोंलोकों के प्राणी सुखी हुए, केवल देवराज-इन्द्र को छोड़कर। उस युद्ध को देखने के लिये ऋषि, मुनि, देवता, पितर, साध्य, गुह्यक, दैत्य-दानव, ब्रह्माजी, महादेवजी तथा स्वयं विष्णुभगवान भी पधारे थे। वृत्र के मारे जाने पर सब अपने-अपने लोकों को चले गये। किन्तु इन्द्र को शांति नही हुई। वे बड़े दुखी और चिन्तित हुए।"

यह सुनकर आश्चर्य के सहित राजा परीक्षित ने पूछा—"प्रभो! यह आप कैसी बात कह रहे हैं? वृत्र के वध में सबसे अधिक प्रसन्नता तो इन्द्र को ही होनी चाहिये वृत्रासुर इन्द्र का ही तो महान—शत्रु था। त्वष्टा-ऋषि ने अपने तप और तेज से इन्द्र के मारने के लिये ही [illegible] किया था। वह तो दैवेच्छा से स्वर का

कारण पासा पलट गया। इन्द्र को मारनेवाला न होकर इन्द्र जिसे मारे—ऐसा असुर उत्पन्न होगया। फिर भी रण मे वृत्रासुर ने इन्द्र के दाँत-खट्टे कर दिये! उसे स्वर्ग के सिंहासन से भ्रष्ट कर दिया, घरबार विहीन बना दिया। ऐसे प्रबल-पराक्रमी शत्रु को मार कर भी इन्द्र विमन क्यों बने रहे? उन्हें प्रसन्नता क्यों नहीं हुई?"

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"राजन्! इन्द्र ने यह सोचा, कैसा भी हो—वृत्र था तो ब्राह्मण का पुत्र ही। असुर ही सही—था तो महान ब्रह्मज्ञानी! ब्रह्मज्ञानी—ब्राह्मण को मार देना सर्वथा पाप है।"

राजाने पूछा—"महाराज! जब देवराज को पता था कि यह ब्रह्मज्ञानी—ब्राह्मण है; तो उसे मारा ही क्यो? क्षमा कर देते अपना लोटा-डोर और सत्तू बाँधकर घूमते रहते पृथ्वी पर! इस ब्रह्महत्या के पाप से तो बच जाते। उन्होंने ऐसा साहस किया ही क्यों?"

इस पर श्रीशुक बोले—"राजन्! कुछ काम तो ऐसे होते हैं जो स्वयं अपने आप उत्साह से किये जाते हैं, कुछ कार्य इच्छा न रहने पर भी धर्म के लिये—दूसरों के अनुरोध से—कर्तव्य-बुद्धि से किये जाते हैं। वृत्रासुर का वध इन्द्र ने महर्षियों के अनुरोध से ही किया था।"

- राजा ने पूछा—"भगवन्! ऋषियों ने ऐसा अनुचित अनुरोध स्वर्गाधिप-इन्द्र से किया ही क्यों?"

इस पर शुक गंभीर होकर बोले—"महाराज! उचित-अनुचित का वर्णन करना बड़ा कठिन हो जाता है। किसी एक के मारे जाने से हजारों का भला हो, असंख्यों-आदमी सुखी हों; तो उसका मारना उचित न होने पर भी लोक के उपकार की दृष्टि

से उचित ही माना जाता है। धर्म की बड़ी सूक्ष्म-गति है! कहीं ऊपरसे दीखने वाला धर्म अधर्म हो जाता है और कहीं पर अधर्म समझा जाने वाला कार्य धर्म से बढ़कर फल देने वाला सिद्ध होता है! बात यह थी कि, जब वृत्रासुर अपनी विशाल काया से तीनोंलोकों को त्रास देने लगा तब सभी ऋषि-महर्षि मिलकर देवराज-इन्द्र के समीप गये और उनकी स्तुति करके कहने लगे—"हे त्रिलोकेश! आजकल वृत्रासुर सभी देवताओ तथा अन्य प्राणियो को पीडा दे रहा है। वह इतना बली है कि अन्य कोई उसे मार नही सकता, आप ही उसे मारने मे समर्थ हैं! अतः उसे आप मार डालिये।"

इस पर देवराज ने विनीत-भाव से कहा—"ऋषियों! आप मुझसे ऐसा अनुचित प्रस्ताव न करे। वृत्र, भगवान्त्वष्टा की अग्निहोत्र की अग्नि से उत्पन्न हुआ—'अयोनिज' पुत्र है। धर्म के मर्म को जानने वाला मैं, उस ब्राह्मण-कुमार को कैसे मार सकता हूँ।"

ऋषियो ने हँसकर कहा—"विश्वरूप भी तो ब्राह्मण था। इसका बड़ा भाई था, तुम्हारा गुरु-पुरोहित और पूजनीय था। परिवार का ही था उसे तुमने कैसे मारा?"

देवराज ने कहा—"मुनियों! उसका मारना भी अनुचित ही था, किन्तु देवताओं के कल्याण के लिये उसे मारना अनिवार्य बन गया। उसे मैंने अत्यत विवश होकर मारा था। मार तो डाला किन्तु उसके मारने पर जो हमे कष्ट उठाने पड़े उसे मैं ही जानता हूँ। यदि वृक्ष, पृथ्वी, जल और नारियो ने मेरी हत्या को न बँटाया होता, तो मैं अब तक हत्यारा ही बना रहता। मैंने तब तीनो-लोकों के सभी प्राणियों से कहा। इन चार परोप-

कारियों को छोड़कर सभी ने निषेध कर दिया। वह हत्या तो जैसे-तैसे बँट-बँटा गई, किन्तु अब यह जो नई-ब्रह्महत्या होगी उसे कौन बँटावेगा ! उसका मार्जन मैं कहाँ करूँगा ?"

इस पर ऋषियों ने कहा—"हे अमराधिप ! आप कैसी बातें कर रहे हैं। हम, आपको अश्वमेध-यज्ञ करावेंगे। अश्वमेध-यज्ञ करने से राजा सभी प्रकार की हत्याओं के पापों से छूट जाता है। अश्वमेध-यज्ञ में होता क्या है ? उन यज्ञपति सर्वान्तर्यामी-श्रीहरि का आराधन होता है, जिनके नाम का संकीर्तन करने से मनुष्य सभी पापों से छूट जाता है। यदि भूल से किसी से मातृ-हत्या, पितृ-हत्या, गौ-हत्या या आचार्य-हत्या आदि महा-पाप हो गये हों—ब्राह्मण हो या शूद्र, पुल्कस हो या चांडाल, जिनके नाम का सकीर्तन करने से नीच-पुरुष भी तत्काल शुद्ध हो जाता है—उन भगवान की आराधना कराके हम आपको ब्रह्म-हत्या से छुडा लेंगे ! अबके आपको ब्रह्महत्या बाँटनी न पड़ेगी।"

यह सुनकर देवेन्द्र ने कहा—"मुनियो ! उन्हीं महा-पापो का प्रायश्चित्त है जो अनजानमें किये हों,जान-बूझकर—संकल्पपूर्वक—जो महापाप किये जाते हैं उनका कोई प्रायश्चित्त नही, फिर आप ऐसा लोक-निन्दित कर्म करने को क्यो कहते हैं ?"

इस पर महर्षियों ने कहा—"सुरनायक ! हम अपने बल-भरोसे आपसे यह सब कह रहे हैं। हम तो भगवन्नाम-कीर्तन के प्रभाव से आपको बड़े से बडे पाप से छुडा सकते हैं। वृत्र तो असुर है, लोकों को त्रास देने वाला है, इसे मारने से जो पाप होगा—वह तो नगण्य ही होगा।"

जब महर्षियो ने छाती-ठोंककर, निर्भय होकर देवेन्द्र को इस प्रकार आश्वासन दिया, तब-ही उन्होंने वृत्र का वध किया।

ब्राह्मण वध करने पर ब्रह्म-हत्या ने उन पर आक्रमण किया। सब
-क सम्मुख ब्रह्म-हत्या को अपनी ओर आते देखकर इन्द्र को
बड़ा दुःख हुआ। कहाँ लोग इन्द्र को तीनोंलोकों का स्वामी
समझते थे, कहाँ ब्रह्म-हत्या उनका धर्षण करने के निमित्त उनकी
ओर दौड़ी। राजन्! जैसे कोई बड़ा भारी न्यायाधीश है, सर्वत्र
उसकी प्रतिष्ठा और सम्मान है, सब लोग उससे डरते हैं, यदि
किसी कारण वश राजा की आज्ञा से उसके हाथ में हथकड़ी पड़
जाय तो जिस तरह वह अत्यंत लज्जित होता है—उसी प्रकार
इन्द्रको भी बड़ा संताप सहना पड़ा! आत्मग्लानि के कारण उन्हें
कल नहीं पड़ती थी, निरंतर बेचैन बने रहते थे। कैसा भी
सहनशील, धैर्यवान् पुरुष क्यों न हो; अपकीर्ति के कारण वे भी
विचलित हो जाते हैं।

भयंकर-वेष बनाये ब्रह्म-हत्या देवेन्द्र के ऊपर दाँतनिकाले
दौड़ी। वह देखनेमें साक्षात् चांडालीजसी दिखाइ देती थी। अंजन
के समान वह काली-कलूटी था, सभी अंगों मे झुर्रियाँ पड़ रही
थीं। बड़े-बड़े ओठ थे, काले-काले बड़ेदाँतों को निकाल हुए वह बड़ा
ही डरावनी लगती थी। वृद्धावस्थाके कारण लच भी रही थी, मुँह
पिचक रहा था, अत्यंत दुबली-पतली ऐसी प्रतीत होती थी मानो
उसे राजयक्ष्मा-रोग हो रहा है। उसके संपूर्ण शरीर से सड़ी हुई
मछली जैसी दुर्गंध आ रही थी। मुखसे भी ऐसी दुर्गंध आ रही
थी मानो उसके मुह मे मुर्दा सड़ गया हो। उसके वस्त्र अत्यंत
ही जीर्ण-शीर्ण थे। केश रूखे और भूरे-भूरे थे, वे बिखरे हुये भी
थे। फटेहुए वस्त्रों से उसके कुरूप-अंग दिखाई देते थे। मासिक-
धर्म के रक्त से उसके वस्त्र लथपथ थे, उन पर मक्खियाँ भिनक
रही थीं। पैरों पर मैल जमा हुआ था, नथुनों से नाक बह रही
थी, आँखों मे कीचड़ भरी हुई थी। वह, इन्द्र को ही ल—

चली आ रही थी और बार-बार कहती थी—"इन्द्र! तू ठहर, मैं तेरे शरीर में लगूँगी, तेरे ही सिर पर सवार हूँगी।" बेचारे इन्द्र क्या करते ऋषि-महर्षियों ने धोखा दिया। चग पर चढ़ाकर वे सब तो नौ-दो-ग्यारह हुए। अब न कोई यज्ञ कराने आया न बात पूछने। इन्द्र मुट्ठी बाँध भागे। ब्रह्म हत्या ने भी उनका पीछा किया। यमलोक, वरुणलोक, कुबेरलोक, ब्रह्मलोक, शिवलोक सभी लोकों में घूमे। किसी ने उन्हें आश्रय न दिया। अब क्या करतें? ये पुरुष तो वज्र हृदय के होते हैं, उन्हें माँ कमला की याद आई। इस विपत्तिसे माँ ही तो रक्षा कर सकती है। अतः माँ-लक्ष्मी की शरण चलें। सुनते हैं, ये उत्तरदिशा में मानसरोवर के कमलों में रहती हैं। अस्तु इन्द्र पूर्व और उत्तर के कोने में स्थित मानसरोवर के समीप पहुँचे। वहाँ वे एक कमल की नाल में घुस गये। इन्द्र को बड़ी चिन्ता हुइ क्या करें। बाहर निकलते हैं तो ब्रह्महत्या चिपट जायेगी, यहाँ रहें तो खायें क्या? देवताओं के मुख हैं—अग्निदेव। यज्ञ में देवताओं के निमित्त जो आहुतियाँ दी जाती हैं, उन्हें अग्निदेव ही सब देवताओं को पहुँचाते हैं। पानी के भीतर अग्निदेव जायँ तो ठंडे हो जायँ। अतः वहाँ इन्द्र को कुछ आहार न मिला। वे एक सहस्रवर्ष उपवास करते हुए—बिना कुछ खाये पिये—उसी कमल-नाल में छिपे रहे।

इस पर राजा परीक्षित् ने पूछा—"भगवन्! जब एक-सहस्रवर्ष इन्द्र अलक्षित भाव से मानसरोवर में कमल की नाल में छिपे रहे तब क्या इतने दिनों तक इन्द्रासन खाली ही पड़ा रहा? त्रैलोक्य का पालन पोषण कैसे हुआ? इन्द्र के बिना यज्ञों का हविर्भाग किसने लिया और समयपर वृष्टि किसने की?"

यह सुनकर श्रीशुकदेवजी ने कहा—"राजन्! इन्द्रपद तो

कभी रिक्त रह ही नहीं सकता। देवेन्द्र के अभाव में राजा-नहुष को स्थानापन्न इन्द्र बनाया गया। तबतक वे ही इन्द्रपद पर प्रतिष्ठित होकर त्रैलोक्य का पालन करते रहे। अन्त में वे, भी अपनी काली करतूतों के कारण इन्द्रपद से च्युत हुए ?"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महाराज-नहुष ने क्या पाप पुण्य किया था उसे आप हमें सुनावें।"

सूतजी, यह कहकर बोले—"मुनियो! मैं इस वृत्तान्त को आप सबके सम्मुख कहूँगा; आप, सब इसे एकाग्र चित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

कमलनाल महँ रहे ब्रह्म-हत्यार शचि पति।
मिले न तहँ आहार भई सुरपति की दुर्गति॥
स्वर्ग इन्द्र बिनु भयो नहुष सुर—इन्द्र बनाये।
पाइ स्वर्ग सम्पत्ति मनुज-भूपति बौराये॥
इन्द्राणी तें कहें नृप, 'पौलोमी' अब हठ तजो।
मैं शासक हूँ स्वर्गपति, इन्द्र मानि मोकूँ भजो॥

स्थानापन्न—इन्द्र नहुष का स्वर्ग से पतन

(४१६)

तावत्त्रिणाकं नहुपः शशास
विद्यातपोयोगबलानुभावः ।
स सम्पदैश्वर्यमदान्धबुद्धि-
नीतस्तिरश्चां गतिमिन्द्रपत्न्या ॥❀
(श्री भा० ६ स्क० १३ अ० १६ श्लो०)

छप्पय

नये-इन्द्र की बात शची सुनि अति घबराई ।
चिंतित, व्याकुल, दुखी, डरी, सुरगुरु ढिँग आई ॥
गुरु प्रसन्न है युक्ति अनौखी ताहि बताई ।
कामी-विषयासक्त-नृपति पै खबरि पठाई ॥
ऋषि-कधनि शिविका धरैं, चढि मम ढिँग आवैं अवसि ।
तो निज पति केइ सरसि, वरन करूँ तिनकूँ हरषि ॥

धन, ऐश्वर्य, यौवन, और प्रभुत्व पाकर भी जिसकी इन्द्रियाँ अपने अधीन बनी रहे, उसे भगवान का परम कृपापात्र समझना

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब तक इन्द्र छिपे रहे, तब तक महाराज-नहुष अपने विद्या, तप, योग और बल से सम्पन्न होकर स्वर्ग का शासन करते रहे । किन्तु उनकी बुद्धि सम्पदा और ऐश्वर्य के कारण मदान्ध हो गई । इसीलिये इन्द्राणी के तिरस्कार के कारण वे तिर्यक (सर्पयोनि) को प्राप्त हुए ।"

चाहिये। संसार मे ऐसे व्यक्ति विरले ही देखने मे मिलते हैं। अधिकार और ऐश्वर्य का मद ऐसा होता है कि, मनुष्य के सम्पूर्ण विवेक को नष्टकर देता है। कर्तव्याकर्तव्य का विवेक रह ही नही जाता। अधिकारारूढ हो जाने पर मनुष्य समझने लगता है—मेरा हाथ पकडने वाला कौन है? मेरे जो मन मे आवेगा वही मैं करूँगा! मैं प्रभु हूँ, स्वामी हूँ, सब मेरे सेवक हैं, सब को मेरी इच्छा के अनुसार वर्ताव करना चाहिये। मेरी हाँ में हाँ मिलानी चाहिये। मेरी आज्ञा का अविलम्ब पालन होना चाहिये। मैं जो करता हूँ ठीक करता हूँ। मुझसे भूल हो ही नही सकती! मेरा तिरस्कार करनेवाला—मेरी आज्ञाका उल्लघन करने वाला—मेरा शत्रु है। उसका अस्तित्व मिटा दो। जिसे रहना हो मेरी इच्छा के अनुसार रहे। ये सब विचार, अविवेक से—काम तथा अहकारके कारण—उठते हैं और इन्हीं विचारो से मनुष्यका पतन होता है।

श्री सूतजी, नैमिपारण्य निवासी मुनियो से कह रहे हैं—"मुनियो! जब वृत्रासुर मारा गया और इन्द्र भी मानसरोवर में ब्रह्महत्या के भय से जा छिपे तो इन्द्रासन खाली हो गया। अब त्रैलोक्य का कार्य कैसे चले? इन्द्र के बिना यज्ञ याग, वर्षा आदि कोन करे? असुर तो पराजित ही हो चुके थे। देवताओंमे ऐसा कोई था नही। ऋषियो ने सोचा—"मनुष्य लोक के किसी विख्यात-राजर्षिको तब तक के लिये स्थानापन्न-इन्द्र बना देना चाहिये।" यह सोचकर सभी ऋषि-महर्षि, देवता तथा उपदेव मिलकर पृथिवी में आये। उन दिनों पृथिवी पर चन्द्रवशी परम यशस्वी-महाराज 'आयु' के पुत्र राजर्षि-नहुष राज्य करते थे। वे बड़े धर्मात्मा, तेजस्वी, यशस्वी और दान-धर्म मे निरतर निरत रहने वाले थे। उन्होंने बहुतसे यज्ञ भी किये थे। ऋषियो ने उनके

जाकर कहा—"राजन्, आप तब तक स्वर्ग के इन्द्र बन जायँ जब तक देवेन्द्र लौट कर नहीं आते।"

ऋषि-मुनियों का सत्कार करके, उनकी विधिवत्पूजा करके राजर्षि-नहुष बोले—"मुनियों! आपकी मेरे ऊपर बड़ी कृपा है जो आप मुझ मरणशील-व्यक्ति को देवताओं के आधिपत्य पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं! किन्तु महर्षियों, मैं सर्वथा इसके अयोग्य हूँ। मुझमें न इतना तप है न तेज, न विद्या है न योग! और नहीं शक्ति। फिर स्वर्ग का शासन कैसे कर सकता हूँ?"

ऋषियों ने कहा—"हे आयुष्मन्! आप बड़े धर्मात्मा हैं। आप सर्वथा इन्द्रपद के योग्य हैं! रही तप, तेज, विद्या और योग्य-शक्ति की बात, सो हम सब मिलकर आपको अपना तप तेज देंगे।"

राजा ने कहा—"महर्षियो! आप मुझे ऐसा वरदान दें कि, मैं जिसकी ओर भी देख दूँ—उसका उसी समय आधा तप-तेज मेरे पास चला आवे। जो भी मेरे सम्मुख आये वही तेजहीन हो जाय।"

ऋषियों और देवताओं को तो अपना काम निकालना था, अतः उन्होंने कहा—"अच्छी बात है राजन्! ऐसा ही हो जायगा; आप चलकर इन्द्रासन को सुशोभित करें।"

यह सुनकर राजा-नहुष को बड़ी प्रसन्नता हुई। वे पृथिवी से स्वर्ग में आगये। ऋषि-मुनियों ने विधिवत् उनका इन्द्रासन पर अभिषेक किया। अपना अपमान करने वाले इन्द्र को पदच्युत् देखकर भगवान-बृहस्पति भी फिर आ गये। नहुष बड़े ठाठ-बाठ से इन्द्रासन का उपभोग करने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! प्रायः देखा गया है कि छोटा—आदमी जब बड़े-पद को प्राप्त कर लेता है तो वह अपनी पुरानी

परिस्थितिको भूल जाता है, उसे बड़ा अभिमान हो जाता है ! उस अभिमान से उसका उसी प्रकार पतन होता है; जैसे मध्यान्ह के प्रचंड-सूर्य का सायंकाल मे—अस्ताचल मे जाकर—पतन होता है। कुछ दिन तो नहुप ठीक-ठीक कार्य करता रहा, किन्तु कहॉ तो मर्त्यलोक के क्षणभंगुर विषय-सुख, कहॉ स्वर्ग का दिव्य-ऐश्वर्य ! कहॉ अन्न का भोजन और कहॉ अमृत-पान !! नहुप को अभिमान बढ़ गया। अब तो ऋषियों का भी अपमान करने लगा। कोई कुछ कहता तो डॉट देता—झिड़क देता। मुनिगण चुप हो जाते, क्या करते ? वे हाथ तो पहिले ही से कटा चुके थे। जो भी उसके सामने आता, उसका तप-तेज वह वरदान के प्रभाव से हरण कर लेता। अब तो ऋषि-संघ मे राज्यक्रांति होने लगी। इस नये इन्द्र के सभी लोग विरुद्ध हो गये। ऋषियो ने देवगुरु-बृहस्पति से कहा। बृहस्पतिजी ने सब सुन-समझकर कहा —"देखो, अब तुम्हारी कुछ चलने की नही ! तुम तो उसे वरदान दे ही चुके। जब मनुष्य, गुरुओं का अपमान करता है और पर-नारियो पर कुदृष्टि डालता है तभी उसका पतन होता है ! यह ऋषियो का तो अपमान करता है, किन्तु अभी इसने पर-नारी पर कुदृष्टि नही डाली। जब यह अपने इस धर्म से च्युत हो जायगा तब अपने आप इस पुण्य-पद से गिर जायगा।"

ऋषियों को नहुप की बातें बहुत बुरी लगती थीं। उन्होंने ऋषि समितिका गुप्तरूप से एक विशेष-अधिवेशन किया और यह प्रस्ताव रखा कि, इस उद्धत-राजा को इन्द्रपद से किसी प्रकार च्युत कर देना चाहिए। एक ऋषि ने कहा—"इस समिति का एक सभापति चुन लो। मैं समझता हूँ—ये अगस्त-मुनि इसके सर्वथा उपयुक्त हैं, इन्होंने विन्ध्याचल को पट्ट लिटा दिया

आतापी को खाकर पचा गये,समुद्र को सोख गये। इस अब्रह्मण्य-राजा को भी ये इन्द्र-पद से युक्तिपूर्वक च्युत कर सकेंगे।"

सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ और ऋषि-मुनि अनुकूल समय की प्रतीक्षा करने लगे। जो अप्सरायें नहुप की सभा में नाचती थीं, वे अपने गीतों मे 'पौलोमी-इन्द्राणी' के रूप-सौन्दर्य की बडी प्रशंसा किया करती थीं। प्रतीत होता है उन सबोंके किसीने कान भर दिये थे। इन्द्राणीकी प्रशंसा सुन-सुनकर नहुप के मन में उसे पाने की प्रबल इच्छा हुई। एक दिन उसने इन्द्राणी के भव्य-भवन को निहारा और गन्धर्वों से पूछा—"यह इतना सुन्दर किसका भवन है ?"

हाथ जोड़े हुये गधर्वों ने कहा—"प्रभो, यह इन्द्र-पत्नी भगवती-शचीदेवी का अंतःपुर है। इसमे कोई भी प्रवेश नही कर सकता।"

राजा तो ऐश्वर्य के मदमें मदांध हो ही रहा था। उसने कहा—"जब हम इन्द्र हैं तो इन्द्राणी को भी हमारी सेवा करनी चाहिए। यह हमारे पास क्यों नही आती ? यह तो हमारा प्रत्यक्ष अपमान है।"

यह कहकर तुरत वायुदेव को बुलाया और उनसे बोला—"वायु! तुम्हारी सर्वत्र गति है। तुम मेरी आज्ञा से इन्द्राणी के पास जाओ और उससे मेरी ओरसे कहो वह मुझ वरण करे। मैं इन्द्र हूँ! न्यायतः जो इस पद पर प्रतिष्ठित है, इन्द्राणी उसीकी पत्नी है। उसे मेरी सेवा करनी चाहिए।"

बिचारे वायुदेव क्या करते! बात तो उन्हे बुरी लगी, किन्तु इन्द्रकीआज्ञा पालन करनी ही थी। शचीदेवीके समीप जाकर सब समाचार कह सुनाया। नहुप के ऐसे प्रस्ताव को सुनकर शची-देवी बडी घबडाई—अत्यत दुखी हुई। उन्हें चिन्ता व्याप गई कि,

दुष्ट कहीं मेरे साथ बलात्कार न करे। बलपूर्वक मेरा सतीत्व न नष्ट कर देवे। इन विचारो के आने से वे डर गईं। थर-थर काँपने लगीं और अशरण-शरण श्रीहरि का मन ही मन स्मरण करने लगीं। अंतमें उन्हें एक युक्ति सूझी—वे अपने कुलगुरु भगवान-बृहस्पति के समीप गईं। उनकी चरण-वदना करके वे उनके सामने बिलख-बिलख कर रोने लगीं।

त्रैलोक्यपति-इन्द्र की पत्नी को इस प्रकार दीन-हीन अनाथिन की भाँति बिलखते देखकर बृहस्पति जी को बडी दया आई और वे बोले—"बेटी! तू क्यो रो रही है, मुझे अपने दुख का कारण बता। किसने तेरा अनिष्ट किया है।"

सुबकियाँ भरती हुई शची ने कहा—"प्रभो! कौन किसका अनिष्ट कर सकता है? भाग्य ही सब कुछ कराता है। हे कृपा सिंधो! हमने अपने किये हुए का बहुत फल पा लिया। गुरुके अपमानका फल हमे बहुत मिला। हमारा राज्य नष्ट हुआ, शत्रुओ ने हमे घर-द्वार हीन कर दिया। अनाथ की भाँति मारे-मारे फिरे। ऐश्वय से हीन हुए। ब्रह्महत्या हमारे सिर पर चढी। आज मैं अपने पति से विहीन होकर अपने दिन काट रही हूँ। कौन अनुमान कर सकता है कि तीनों-लोकों के स्वामी इन्द्र की पत्नी इतने भारी कष्ट मे पडकर अपने दिन बिता रही है। गुरुदेव! मैं तो शूकरी-कूकरी को अपने से लाखगुना सुखी समझती हूँ कि वे अपने पतियों के साथ तो रहती है। मैं बडे कष्ट से पति के वियोग रूप दुख को सहन कर रही थी, कि अब मेरे सिरपर एक नई बडी भारी-विपत्ति आ टूटी। अब तक मैं जैसे-तैसे अपने सतीत्व को बचाय हुए थी, अब देखती हू उसकी भी रक्षा में संदेह है।"

यह सुनकर भगवान बृहस्पति, दुखित होकर ।ग

स्वर में बोले—"देवी ! तुम्हारा किसने अपमान किया ? कौन, तुम्हें बुरी-दृष्टि से देखने का साहस कर सकता है ? तुम मुझे उस दुष्ट का नाम बताओ—मैं उसे अभी अपने तप-तेजसे भस्मसात् कर दूँगा।"

हाथ जोड़े हुए काँपते-काँपते शची ने कहा—"प्रभो ! यह जो नया-इन्द्र आपने बनाया है, आज इसी ने मेरे समीप वायुदेव को अनुचित-प्रस्ताव लेकर भेजा है।" वह कहता है—"मैं नियमानुसार इन्द्र हूँ, तुम मेरी सेवा करो और मेरी इन्द्राणी बनो।"

यह सुनकर, सुर-गुरु-बृहस्पति-मुनि गंभीर हो गये और बोले—"बेटी ! यह तो बड़ी कठिन-समस्या है। ऋषियों ने बिना इसके स्वभाव को समझे इसे बहुत बड़ा वरदान दे दिया। इसके सम्मुख जो जाता है; उसी का यह वरदान से तप-तेज हर लेता है। किन्तु फिरभी कोई चिन्ताकी बात नहीं। प्रतीत होता है अब इसके पुण्यक्षीण हो रहे हैं ! इसका स्वर्ग से पतन होने वाला है, तभी तो इसके मन में तुझ जैसी सती-साध्वी के प्रति पाप-बुद्धि उत्पन्न हुई है। कोई चिन्ता नहीं, तू उसके पास संदेश भेज दे कि सहस्र-मुनियों को अपनी पालकी मे लगाकर, उन पर चढ़कर अमुक समय आप यहाँ आवें तो मैं आपकी सेवा करूँगी।"

गुरु की आज्ञा पाकर शची ने ऐसा ही संदेश, नहुष के पास भेज दिया। इसे सुन कर उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने सब ऋषियों-महर्षियों को बुलवाया और कहा—"आज तुम सबको मेरी पालकी उठाकर ले चलनी पड़ेगी। समझे कुछ ? जो इगिर-दिगिर करेगा उसके डंडे लगेंगे।"

मुनि बिचारे क्या करते ? सबकी ओर देख-देखकर उसने उनका तप हरण कर लिया था, उसके सम्मुख मना करने का किसी को

साहस ही नहीं हुआ। सब ने कहा जैसी आपकी आज्ञा!"

नहुप ने सेवकों से 'शिविका' सजाने को कहा। सेवक, शिवि-

का सजाने लगे, वह अपना स्वयं शृंगार करने लगा। आज

इसने बड़े मनोयोग से श्रृंगार किया कि शची उसका रूप देखकर ही मुग्ध हो जाय, प्रसन्नतापूर्वक मुझे अपना ले और स्वेच्छा से अपना पति बना लेवे। श्रृंगार करते-करते इसे बहुत विलम्ब हो गया। झटपट निकल कर शिविका में बैठ गया और ऋषियों से बोला—"मेरी पालकी को अति शीघ्र शची के शयनागार की ओर ले चलो।" ऋषियों ने विवश होकर जैसे-तैसे उसे उठाया। इन्द्राणी ने जो समय नियुक्त किया था वह समीप ही आगया था, नहुष को उससे मिलने की चटपटी लगी हुई थी। अतः वह बार-बार ऋषियों से कहता "शीघ्रमेव सर्प-सर्प" अर्थात् शीघ्र चलो। किन्तु ऋषियों से शीघ्र कब चला जाता है? कोई यज्ञयाग कराना होता तो शीघ्रता करते या प्रसाद पाना होता—निमंत्रण उड़ाना होता तो दूसरी बात थी! इन सबका तो उन्हें नित्य का अभ्यास था। अब उन्हें एक अनभ्यस्त-कार्यमें बलपूर्वक नियुक्त कर दिया गया था। एक तो सबके शरीर कुछ स्थूल थे दूसर ऋषि ही ठहरे! कभी भी किसी की ऐसी आज्ञा सहन नहीं की, फिर भी शीघ्रता से चलने लगे।

इतने पर भी नहुष को सन्तोष नहीं हुआ। वह ऋषियों पर पादाघात करने लगा और बारम्बार सर्प-सर्प, चलो-चलो चिल्लाने लगा। इस पर एक दूसरे मुनि की जटा में छिपे हुए अगस्त-मुनि ने उसे शाप दे दिया—"अरे दुष्ट! ले, बार-बार हम ऋषियों को 'सर्प-सर्प' कहता है—जा तू ही सर्प हो जा।"

इतना सुनते ही ऋषि के शाप से नहुष औंधे-मुँह गिर पड़ा—वह सर्प हो गया। इन्द्रासन पुनः खाली हो गया। अब ऋषियों को पुनः इन्द्र की चिन्ता हुई।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! इस प्रकार मैंने यह नहुष

का स्वग से पतन को अत्यत हो सचेपमे कथा सुनाई। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! हम अब अग्रिम-वृत्तान्त सुनने को उत्सुक है। इन्द्र का क्या हुआ ? इन्द्रासन पर फिर कौन वेठा ? देवेन्द्र की यह दूसरी ब्रह्महत्या छूटी या नहीं ? इन सब वातों को आप बतावे।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है, मुनियो ! मैं इस परम रोचक प्रसग को आगे सुनाता हूँ आप मनोयोग से सुने।"

छप्पय

चढ्यो पालकी नहुष सहस मुनि ताहि उठावें।
'सप-सर्प' नृप कहे अनसुनी ऋषि करि जावें॥
अति जब करिवे लग्यो कोप कुभज-मुनि कीन्हों।
दुष्ट सर्प ह्वै जाय शाप मुनिवर ने दीन्हों॥
चट-पट अजगर भयो, औंधे मुँह ते गिर परयो।
तुरत पाप को फल चख्यो, इन्द्राणी प्रति जस करयो॥

निष्पाप हुए इन्द्र को पुनः इन्द्रपद की प्राप्ति

(४१७)

स वाजिमेधेन यथोदितेन
वितायमानेन मरीचिमिश्रैः ।
इष्ट्वाधियज्ञं पुरुषं पुराण-
मिन्द्रो महानास विधूतपापः ॥*
(श्रीभा० ६ स्क० १३ अ० २१ श्लो०)

छप्पय

भयो पाप को अन्त गये सब मिलिकें ऋषि-मुनि ।
देवराज कूँ लाइ करायो अश्वमेध पुनि ॥
ज्यों कुहरा नसि जाइ उदित दिन के ह्वैवे ते ।
पाप-पुञ्ज त्यों नसे नाम हरि को लैवे ते ॥
इन्द्र, नाकं पति पुनि भये त्रिभुवन अति हर्षित भयो ।
यों दधीचि को त्याग अरु वृत्रासुर को वध कह्यो ॥

मन में जब तक अत्यधिक पाप रहते हैं; तब तक शुभ-कर्मों में प्रवृत्ति ही नहीं होती । पापात्माओं की पापों में और

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार शास्त्रोक्त विधि से मरीचादि महर्षियों ने देवराज-इन्द्र को अश्वमेध यज्ञ कराया । उस यज्ञ के द्वारा पुराण-पुरुष यज्ञरूप-श्रीहरि का भजन करके, इन्द्र निष्पाप होकर पूर्ववत् महान हो गये ।"

पुण्यात्माओं की पुण्य-कार्यों में स्वाभाविक ही प्रवृत्ति होती है। जब भगवत्-कृपा से पापों के क्षय का समय सन्निकट आ जाता है तब वैसे ही मानिक बनने लगते हैं, शत्रु मित्र बन जाते हैं और अपकारी उपकार करने की बात सोचने लगते हैं! प्रतिकूल परिस्थितियाँ अनुकूल होने लगती हैं और दुर्भाग्य हटकर सौभाग्य का पदार्पण होने लगता है। इसीको कहते हैं—काल का प्रभाव !!

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! वृत्रासुर के मारे जाने पर इन्द्र को जो ब्रह्महत्या लगी थी, उसके अंत होने का समय आ गया। सहस्र-वर्ष निराहार रहकर और जल में छिपे-छिपे इन्द्र ने जो तपस्या की थी—भगवान का स्मरण किया था, इसी से उनके सब पाप क्षीण हो गये। इधर नहुष को जो सहस्र-वर्ष तक इन्द्र बनने का पुण्य भोग करना था, उसकी भी समाप्ति हो गई। वे पुण्य के क्षीण होने पर अजगर बनकर पृथिवी पर गिर पड़े।"

अब तो फिर ऋषि, मुनि, देवता, गन्धर्व तथा तीनों-लोकों के जीवों को इन्द्र की चिन्ता हुई। ऋषियों के संघ का पुनः अधिवेशन हुआ। उसमें निश्चय हुआ—पुराने इन्द्र को खोजा जाय! अग्निदेव को दूत बनाकर भेजा गया। जैसे-तैसे अग्निदेव ने उनसे ऋषियों का संदेश कहा। ऋषियों ने मेरे ऊपर कृपा की है यह सुनकर इन्द्र को प्रसन्नता हुई। वे मरीचादि महर्षियों की शरण में आये। ऋषियों ने उन्हें आशीर्वाद दिया और सर्व-पाप शमन के लिये भगवान-पुरुषोत्तम की आराधनारूप-अश्वमेध-यज्ञ की विधिवत् दीक्षा दी। जब उन वेदवादी-मुनियों ने अश्व-मेध यज्ञ के द्वारा सर्वदेवमय परमपुरुष परमात्मा का प्रेम पूर्वक भजन कराया, तो उसीसे उनका वृत्रवध-जनित महान पाप-पुञ्ज विलीन हो गया। देवेन्द्र उसी प्रकार विशुद्ध बन गये, जैसे

अग्नि में तपने से सुवर्ण मलरहित हो जाता है ! वर्षाकालीन जल मे निर्मली डालने से जैसे वह शुद्ध हो जाता है,·· जिस प्रकार मासिक-धर्म के अनंतर नारियाँ शुद्ध हो जाती हैं, ग्रहण के अनन्तर सूर्य-चन्द्र पुनः विशुद्ध बन जाते हैं, तपाने से घृत शुद्ध हो जाता है, अपवित्र पृथिवी जैसे काल पाकर स्वतः ही शुद्ध हो जाती है, स्नान करने से जैसे शरीर शुद्ध हो जाता है अपवित्र-पात्र इत्यादि शुद्धि करने से विशुद्ध हो जाते है ! जैसे संस्कारो से द्विज, तप से इन्द्रियाँ और मन !! दान से धन तथा संतोप से चित्त शुद्ध बन जाता है—उसी प्रकार भगवत्-आराधना रूप अश्वमेध-यज्ञ से इन्द्र भी विशुद्ध हो गये। उनके समस्त पाप धुल गये ! वे पुनः उसी प्रकार तीनों-लोकोंके पूजनीय, माननीय, वन्दनीय, अर्चनीय, सम्माननीय तथा आदरणीय बन गये। चिरकाल से बिछुड़े अपने पति को पाकर पौलोमी-इन्द्राणी अत्यंत ही प्रसन्न हुई। इन्द्र ने विनीत-भाव से जाकर अपने गुरुदेव के पाद-पद्मों मे श्रद्धा-भक्ति पूर्वक प्रणाम किया और अपनी पुरानी अविनय के लिये विशुद्ध-हृदय से पश्चात्ताप करते हुए क्षमा-याचना की। इसपर प्रसन्नता प्रगट करते हुए बृहस्पतिजी ने कहा—"देवेन्द्र ! तुम न तो मुझे दोष देना और न अपनी इस दुर्गति पर दुख ही करना। कौन; किसे दुख-सुख देता है ? यह सब काल ही कराता रहता है। जिस समय जैसा काल होता है, उस समय पुरुप की वैसी ही बुद्धि बन जाती है ! वैसे ही कार्य करता है, वैसे ही कर्म करने की अन्तःकरण से प्रेरणा भी होने लगती है। जैसी भवितव्यता होती है उसीके अनुरूप संयोग जुटने लगते हैं। उसी से प्रेरित होकर ऋषि-मुनि शाप और वरदान देते हैं। आपका ऐसा प्रारब्धही था। कोई अनिष्ट प्रद्रप संयोग था, अच्छा ही हुआ—उसे भोगकर आपने समाप्त

कर लिया। प्रारब्ध कर्मों का भोग तो सभी को भोगना ही पड़ता है। अंतर इतना ही है कि बुद्धिमान पुरुष, विवेक के साथ सुख-दुख मे समवृत्ति रखकर, अवश्यम्भावी समझकर उसे निर्लेप-भाव से भोगते हैं और अज्ञानी पुरुष कष्ट से रोते हुए दुख पूर्वक भोगते हैं। भोगना तो सभी को पड़ता है। अब आप विशुद्ध होकर तीनों-लोकों का न्यायपूर्वक पालन करो। मंगलमय-श्रीहरि तुम्हारा मंगल करेंगे।"

भगवान के नाम, गुण, कीर्तन की महिमा का वर्णन है। भक्तों के विशुद्ध-चरित्र और उनकी अहैतुकी-अनन्य-भक्ति का निरूपण किया गया है। इस आख्यान को एकबार ही पढ़कर न छोड़ देना चाहिए कि—एक बार पढ़ तो लिया! नहीं; इसे बार-बार पढ़ना चाहिए। पुनः-पुनः मनन करना चाहिए। पूर्वकाल उपस्थित होने पर, यात्रा में, मित्रों की गोष्ठी में, श्राद्धादि के समय, पुण्य-क्षेत्रों में, इस भक्तिवर्धक आख्यान के पढ़ने से मन पवित्र होता है! चित्त में शांति आती है!! अन्तःकरण में आह्लाद उत्पन्न होता है!!! इस लोक में धन, यश, विजय, दीर्घ-आयुकी प्राप्ति होती और परलोक में भी इच्छानुसार सुख मिलता है।"

श्रीसूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कहकर मेरे गुरुदेव भगवान-शुक चुप होगये।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! इस पुण्य-आख्यान के श्रवण करने से तो हमें बड़ा सुख मिला। इसमें वैसे तो सभी बातें एक से एक बढ़कर हैं, किन्तु दो प्रसंग इसमें बड़े ही मार्मिक और हृदयस्पर्शी प्रतीत हुए—एक तो दधीचि-मुनि का त्याग और दूसरी वृत्रासुर की विशुद्ध अहैतुकी भगवद्-भक्ति! महाभाग, असुर-शरीर में भी भगवान् के प्रति ऐसा दृढ़-अनुराग हमने तो कहीं सुना नहीं। फिर घोर-समर में जहाँ एक योद्धा दूसरे योद्धा के रक्त का ही प्यासा बना रहता है, जहाँ क्षण-क्षण में क्रोध आता है, वहाँ भी समभाव में स्थित रहकर भगवान की इतने स्नेह से स्तुति करना—इससे तो हमें बड़ा कुतूहल हो रहा है! वृत्रासुर की ऋषि-मुनि और योगियों से भी श्रेष्ठ ऐसी मति किस कारण से—किस साधन से हुई और इतने बड़े भगवद्-भक्त को आसुरी-योनि किस अपराध से प्राप्त

हुई ? इन बातों को सुनने की हमारे मन में बड़ी लालसा है ! यदि आप उचित समझें तो इस प्रसंग को हमें और समझा दें।"

यह सुनकर सूतजी गंभीर होकर कहने लगे—"मुनियों ! भगवद्-भक्ति एक जन्म का फल नहीं है। वह, साधन-साध्य नहीं है—कृपा-साध्य है ! भगवान जिस पर कृपा करदें, जिस विशुद्ध-अन्तःकरण वाले महापुरुष के हृदयरूपक्षेत्र में भक्तिके बीज का वपन कर दें। महाभाग ! हजारों-लाखों जन्मों में तप, यज्ञ, अनुष्ठान आदि शुभ-कर्म करने से अन्तःकरण विशुद्ध होता है। उनमें से किसी विरले-पुरुष के हृदय में भागवती-भक्ति का प्रादुर्भाव होता है। सो, मुनियों ! यह वृत्रासुर के पूर्व-जन्मों के सुकृतों का ही फल है, रही—आसुरी-योनि की बात ! सो,भक्त इन शरीरों को महत्त्व नहीं देते। ये देह तो आत्मा के आवरण मात्र हैं ! जैसे राजा कैसा भी वस्त्र पहिने राजा ही है। भगवद्-भक्त तो पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, लता, गुल्म, मनुष्य, देवता, स्त्री-पुरुष, छोटे-बड़े, धनी-दरिद्र, सभी में पाये जाते हैं। इसमें आप संदेह न करें ! वृत्रासुर ने भगवान-सङ्कर्षण की बड़ी साव-धानी से—पूर्वजन्म में—आराधना-उपासना की थी। उसीका यह फल था कि आसुरी-योनि में भी उसका प्रभु-पादपद्मों में दृढ़ अनु-राग बना ही रहा।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"महाभाग सूतजी ! हमें वृत्रासुर के पूर्वजन्म का चरित्र सुना दीजिये। इसे सुनने के लिये हमें बड़ा कुतूहल हो रहा है।"

इस पर सूतजी ने कहा—"मुनियो ! मैं आपको वृत्रासुर के पूर्वजन्म का वृत्तान्त अवश्य सुनाऊँगा। मेरे गुरुदेवसे भी महाराज-परीक्षित ने यही प्रश्न पूछा था। उन्हें भी आपही की

कौतूहल हुआ था, उस परम पुण्य-उपाख्यान को मैं सुनाऊँगा। आप, अपने मन को तनिक भी इधर उधर न होने दें। यह इतना रोचक, सारगर्भित और मन को प्रसन्न करने वाला इतिहास है कि आप दत्तचित्त होकर सुनेंगे तो सुखी होंगे। तनिक भी चित-चचल हुआ तो "गोविन्दाय नमो नमः" ही है। कथा का रस चला जायगा।"

इसपर शौनकजी ने कहा—"सूतजी, आप बार-बार यह क्यों कहा करते हैं—सावधानी से सुनो, दत्त-चित्त होकर सुनो, मन लगा कर सुनो, चित्त को चचल मत होने देना। हम सब तो कितनी सावधानी से सुनते हैं, फिर भी आप बार-बार टोकते रहते हैं, चेतावनी देते रहते हैं—यह क्या बात है?"

यह सुनकर सूतजी खिलखिला कर हस पडे और बोले—"क्या बताऊँ महाराज! मेरी ऐसी टेव पड गई है। आप इसका यह अर्थ न समझें कि आप सावधान होकर नहीं सुनते, यदि आप असावधानी करते तो मैं सुनाता ही नहीं। फिर भी जो मैं यह चेतावनी देता हूँ—अपनी लत से, आदत से विवश होकर कह देता हूँ। कथावाचकों का कोई एक विशिष्ट-शब्द होता है, उसे वे बार-बार दुहराते हैं। कोई कहते हैं—"समझे?" कोई कहते हैं "क्या समझे?" कोई कहते हैं—"क्यों ठीक है न?" कोई कहते हैं—"कहो कैसी कही?" कोई-कोई कहते हैं—"तुम्हारा रामजी भला करे।" कोई,श्रीसीतारामजी की इच्छा से! श्रीगोपालजी की इच्छासे! श्रीजीकी इच्छा!! इसी प्रकार मेरा भी यह पादपूर्ति वाला विशिष्ट-शब्द है! हाँ—तो अब मैं वृत्रासुर के पूर्व-जन्म का वृत्तान्त सुनाता हूँ। आप सब सावधानी के साथ स्वस्थ चित्त से सरसता-पूर्वक सुनने की कृपा करें।

छप्पय

यह अति सुखद पवित्र चरित शिक्षाप्रद भारी।
पढ़ें सुनें नर-नारि होहिँ ते अयसि सुखारी॥
मुनि-दधीचि को त्याग वृत्र की भक्ति-अनूठी।
ये ही द्वै हैं सार ! और जग-चर्चा झूठी॥
शौनक बोले—सूत ! कस, वृत्र असुर देही लही।
सूत कहें—शुक ने कथा, नृपति प्रश्न पै सब कही॥

वृत्रासुर के पूर्वजन्म का वृत्तान्त

(४१८)

आसीद् राजा सार्वभौमः शूरसेनेषु वै नृपः ।
चित्रकेतुरिति ख्यातो यस्यासीत्कामधुङ् मही ॥
तस्य भार्यासहस्राणांसहस्राणि दशाभवन् ।
सान्तानिकश्चापि नृपो न लेभे तासु सन्ततिम् ॥*
(श्री.भा० ६ स्क० १४ अ० १०, ११ श्लो०)

छप्पय

कहँ परीछित प्रभो ! वृत्र को पूर्व जनम महँ ।
कस अस हरिपद भक्ति रह्यो कस अटल धरम महँ ॥
शुक बोले—सुनु, भूप ! नृपति इक चित्र केतुवर ।
शूरसेन को ईश साधुसेवी सुठि सुन्दर ॥
विद्या रूप उदारता, सम्पति सब अगनित भरी ।
नृप की रानी दस-अयुत हती कुलवती सुन्दरी ॥

पूर्व संस्कार, मनुष्य के साथ उसी प्रकार चिपटे रहते हैं जिस प्रकार गर्भ का बालक 'जरा' नामक झिल्ली से लिपटा

---

* श्रीशुकदेवजी, वृत्रासुर के पूर्व-जन्म का वृत्तान्त बताते हुए कहते हैं—"राजन् ! शूरसेन-देश में एक चित्रकेतु नाम का सार्वभौम राजा रहता था । उसके राज्य में पृथिवी, कामधेनु के समान सभी इच्छित पदार्थों को देने वाली थी । यद्यपि वे, निर्वीर्य नहीं थे—सन्तान

रहता है। किसी देश की, किसी वर्ण की, किसी जाति की स्त्री के गर्भ से बालक हो—जरा से लिपटा ही पैदा होगा। इसी प्रकार जीव चाहे जिस योनि में जाय, पूर्व-कृत पाप-पुण्य उसके साथ ही सटे रहेंगे। बिना पुनर्जन्म को माने ससार की जन्म-जात विषमताओं का किसी प्रकार समाधान हो ही नही सकता। पूर्वजन्म में जिसे हमने दुख दिया होगा वही आकर—अकारण ही—हमे पीडा पहुँचावेगा। कितने पक्षी उडे जारहे हैं, उनमे से एक-दो को ही बाज क्यो मारता है? शेष क्यों बच जाते हैं। एक घर मे बहुत से चूहे हैं, उनमे से बिल्ली एक ही दो को क्यो पकड़ती है? बहुत से पकड लेने पर भी क्यों भाग जाते हैं। एक साथ बहुत आदमी रहते हैं, उनमे से एक दो के ही साथ हमारा प्रेम क्यो होता है। शेष, समीप रहते हुए भी हमारे लिये उपेक्षणीय क्यो बने रहते हैं? एक कन्या-पाठशाला में सैकडो-कन्याये शिक्षा पाती हैं, विष्णुमित्र का विवाह शीला के साथ ही क्यो होता है? अन्य-कन्याओं को वह देखते हुए भी क्यों नही देखता। उसका मन शीला ही की ओर अत्यधिक-आकर्षित क्यो होता है? आप कहेंगे कि यह तो आकस्मिक घटना है, सयोग की बात है। इसके उत्तर मे हम कहेंगे, ससार में कोई कार्य कारण के बिना नही होता, अकस्मात् तो कुछ होता ही नही। संयोग भी दैवेच्छा से-पूर्व जन्मकृत-कर्मों के अनुसार ही होता है। पूर्वजन्म में हमारा जो कोई कुछ रहा होगा, वही इस जन्म में हमे इस रूप मे सुख-दुःख देने आया हुआ है।

वृत्रासुर के वृत्तान्त को सुनकर और उसकी भगवद्-भक्ति तथा

उत्पन्न करने में समर्थ थे और उनके हजारों-रानियाँ थीं, फिर भी उनके कोई सन्तान नही थी।''

श्रीकृष्ण पाद-पद्मों मे अनन्य-अनुरक्ति को स्मरण करके महाराज परीक्षित् श्रीशुक से पूछने लगे—"भगवन्! यह तो बड़े ही आश्चर्य की-सी बात मालूम पड़ती है, घोर-रजोगुणी तमोगुणी वृत्रासुर की प्रभुपाद-पद्मोंमे ऐसी अचल-प्रीति किस प्रकार हुई! कैसे वह भयंकर-संग्राम में निश्चल-भाव से भगवान की स्तुति करता रहा!! उस इतने उग्र-स्वभाव के असुर की सहसा मुक्ति किस प्रकार हो गई?"

इस बात को सुनकर हँसते हुए श्रीशुक बोले—"क्यों महाराज! मुक्ति का या भगवद्-भक्ति का किसी ने ठेका ले रखा है क्या?"

इस पर महाराज परीक्षित् शीघ्रता से बोले—"नहीं भगवन्, ठेका की बात नहीं है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि अपवाद तो सभी में होते हैं! किन्तु प्रायः करके शुद्ध, सतोगुणी, पवित्राचरण करने वाले पुरुषों के हृदय मे ही भगवद्-भक्ति का संचार होता है। सभी सतोगुणी भगवद्-भक्त होते हैं; सो भी बात नही! बहुत से सतोगुणी-देवताओ में और पवित्र चित्तवाले ऋषि-मुनियों तक के हृदयों में भगवान के पादपद्मों मे प्रीति उत्पन्न नही होती! फिर इस महापापी-वृत्रासुर के हृदय में इतना प्रगाढ़ प्रभु-प्रेम कैसे प्रगट हो गया?"

इस पर श्रीशुकदेवजी ने कहा—"राजन, आप ऐसी बात क्यों कर रहे हैं! भगवान के हाथों से जो भी क्रूर-पापी-दुष्टचित्तवाले असुर मरे हैं; वे सब के सब मुक्त हो गये हैं! फिर वृत्रासुर, भगवान के तेजयुक्त-वज्र से मर कर मुक्त हो गया तो इसमें कौन सी आश्चर्य की बात हुई?"

इस पर महाराज परीक्षित् बोले—"भगवन्! मुक्ती हो जाना तो दूसरी बात है। मुक्ति को मैं उतनी कठिन नही मानता

जितनी कि भक्ति को ! मुक्ति तो बहुतों को हो जाती है, प्रायः बहुत से असुर-राक्षस भी मुक्त हो जाते हैं किन्तु भक्ति तो किसी विशेष ही भाग्यशाली को प्राप्त होती है।"

यह सुनकर हँसते हुए श्रीशुक बोले—"राजन् ! मुक्ति को क्या आपने गुड का पुआ समझ रखा है जो गप्प से मुँह में डाला और निगल गये। मुक्ति को आप सुलभ कैसे बता रहे हैं ?"

शीघ्रता से महाराज परीक्षित् बोले—"नहीं-नहीं भगवन् ! मेरा यह अभिप्राय कदापि नहीं कि मुक्ति सुलभ है। मुक्ति का मार्ग तो छुरे की धार की भाँति तीक्ष्ण है। इस जगत में मुक्ति के ही लिये तो समस्त जीवों के प्रयत्न हैं। कोई रोग की मुक्ति के लिये, कोई दुख की मुक्ति के लिये, कोई कामवासना से मुक्ति के लिये, कोई भूख से मुक्ति पाने के लिये, कोई जाडे—गरमी से मुक्ति पाने के लिये, कोई कलह से मुक्ति पाने के लिये कोई 'पु' नामक नरक से मुक्ति पाने के लिए, इस प्रकार सभी किसी न किसी अभाव की पूर्ति के लिये सतत प्रयत्न कर रहे हैं। संसार मे असख्य-जीव हैं। पृथिवी के समस्त-कणो की सख्या तो सभव है गणनाकी भी जा सके, किन्तु ससारके समस्त-जीवों की गणना करना असभव है। उद्भिज, स्वेदज, अडज और जरायुज (इस प्रकार जीवों के ४ भेद बताये हैं इन चारों की ८४ लाख) योनियाँ बताई हैं। एक योनि मे असख्यो-जीव इस ब्रह्माड में है। यह १४ भुवनोंवाला एक ही ब्रह्माण्ड हो सो भी बात नहीं ! ऐसे असख्या ब्रह्माण्ड हैं। उन सभी मे पृथक पृथक ब्रह्मा, विष्णु, महेश, देवता, मुनि, प्रजापति आदि बताये गये हैं। इन इतनी योनियों में से मनुष्य आदि कुछ ही ऐसी योनियाँ हैं जो इस ससार-सागर से पार जाने की सोच सकते हैं। उन सोचनेवालों मे से कुछ ही लोग मु

लिये प्रयत्न करते हैं। उन प्रयत्न करनेवालों मे भी प्रबल-इच्छा वाले कम ही होते हैं। सभी प्रवल इच्छावाले मुमुक्षु जीवन्मुक्त हो जाते हों, सो भी बात नही। उनमे कोई भाग्यशाली ही सिद्धि लाभ करके मोक्ष के अधिकारी होते हैं। उन करोड़ों जीवन्मुक्त तथा सिद्धपुरुषों मे से कोई विरले ही शांतचित्त, नारायण-परायण महापुरुष होते है। भगवत्परायणता कोई सरल नही! यह बात नही जो भी वेष बना ले—माला खटकाले, वही प्रभु-परायण हो जाय। आप कह रहे हैं—वृत्रासुर नरायण-परायण था, संग्राम मे भी उसकी भगवान के चरणारविन्दों में दृढ़मति बनी रही सो यह कैसे हुआ? इस विषय में मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है! वृत्रासुर साधारण-वीर भी नही था, युद्ध में उसने देवताओं के छक्के छुड़ा दिये। अपने पुरुषार्थ से उसने रण में इन्द्र को भी 'सन्तुष्ट' कर दिया! यह सब किस प्रकार हुआ?"

यह सुनकर श्री शुकदेवजी बोले—"राजन्! यह सब पूर्व-जन्मों के संस्कार से होता है।"

इस पर राजा बोले—"इसी बात के सुनने की भगवन्! मेरी इच्छा है। मैं जानना चाहता हूँ; यह वृत्रासुर पूर्व-जन्म मे कौन था? किस प्रकार इसका भगवान में अनुराग हुआ, फिर इतना भगवद्-भक्त होकर यह असुर-योनि मे क्यों उत्पन्न हुआ? आप सर्वज्ञ हैं भूत, भविष्य तथा वर्तमान की सब बातें जानते हैं, अतः मुझे इन सब बातों को सुनाने की कृपा कीजिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! जब महाराज परीक्षित् ने इस प्रकार पूछा तो मेरे गुरुदेव-भगवान व्यासनंदन-श्रीशुकजी उनके समीप प्रश्नों का उत्तर देने लगे।"

श्रीशुकदेवजी ने कहा—"राजन्! इसमें सर्वज्ञता की तो कोई बात नहीं। यह तो बहुत प्राचीन और बहुत ही इतिहास—

प्रसिद्ध वृत्तान्त है। मैंने पहिले तो इसे अपने पिता भगवान-व्यास के मुख से सुना था। एक बार मुझे देवल-मुनि मिल गये, उनसे भी यों ही बात-बात में पुनर्जन्म का प्रसंग छिड़ गया—तो उन्होंने भी इसी इतिहास को मुझे सुनाया! फिर एक बार मेरी देवर्पि-नारद जी से भेंट हो गई, मैंने उनसे प्रश्न किया कि 'भगवान की भक्ति किन लोगों के हृदय में उत्पन्न होती है ?' इसके उत्तर में इन्होने कहा—"भगवान कब किस पर कृपा कर दें; इस विषयमें कोई निश्चित नियम नहीं। देखो—वृत्र कितना बली-पराक्रमी और देवताओं को भयभीत करने वाला असुर था, परन्तु उसकी भी भगवान मे अहैतुकी-भक्ति थी।" इसी प्रसंग में उन्होंने भी मुझे वृत्रासुर के पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुनाया।"

यह सुनकर राजा बोले—"तब तो महाराज! यह बड़ा-प्राचीन और प्रामाणिक-इतिहास है। इतने बड़े-बड़े महर्पि प्रमाण-भूत मानकर इसका कथन करते हैं। तब तो आप इसे मुझे अवश्य सुनावें।"

इस पर हँसते हुए श्रीशुक कहने लगे—"अच्छी बात है राजन्! सुनिये। मैं आपको इस परम-पुण्यमयी कथा को सुनाता हूँ।

बहुत प्राचीन समय की बात है, कि शूरसेन-देश में एक बड़े ही प्रतापी-राजा राज्य करते थे। महाराज! श्रीयमुना जी के किनारे पर जहाँ आजकल श्रीवटेश्वर-शिवजी विराजमान हैं; इसी के आस-पास के प्रान्त को शूरसेन-देश कहते हैं। उन धर्मात्मा-राजा का नाम चित्रकेतु था। उनके पुण्य के प्रभाव से उन दिनों यह पृथिवी,कामधेनु के समान सभी इष्ट वस्तुओं को संकल्प मात्र से ही देती थी। राजन्! जब मनुष्यों में अविश्वास बढ़ जाता है, अधर्म का प्राबल्य हो जाता है; तो यही भूमि समस्त वस्तु को

अपने भीतर छिपा लेती हैं! अच्छी-अच्छी वस्तुओं के बीजों को उत्पन्न ही नहीं करती। प्रभावशाली-औषधियों को निकालती ही नहीं। दुष्ट-राजाओं के कारण यह निर्बीज बन जाती है। यदि इस पर धर्मात्मा-राजा होते हैं, तो बिना जोते-बोये जो चाहें वही देती है। स्थान-स्थान पर हीरा-मोती निकलते हैं! उन महाराज-चित्रकेतु के राज्य में ऐसा ही था। किसी को किसी वस्तु की कमी नहीं होती थी। अन्न-वस्त्र सभी को पृथिवी यथेष्ट उत्पन्न करदेती थी।

राजा बड़े रूपवान थे, कामदेव के समान उनका सुन्दर शरीर था। बड़े ही उदार थे, उनसे जो भी आकर जिस वस्तु की याचना करता वे उसे उसी वस्तु को आदर और प्रसन्नता के साथ देते। कभी किसी की आशा को भंग करके विमुख नहीं जाने देते। वे वंश-परम्परा के राजा थे, सत्कुल में उनका जन्म हुआ था! पिता-पितामह तथा प्रपितामहों से चले आये हुए राज्य के वे अधिकारी थे। प्रायः राजा बहुत पढ़ने-लिखने नहीं पाते; उनमें यह बात नहीं थी, वे सभी विद्याओं में पारंगत थे। उनका अतुलनीय-ऐश्वर्य था। उनकी अटूट-सम्पत्ति थी जिसकी कोई सीमा नहीं थी। सारांश यह कि, उनमें सभी सद्-गुण विद्यमान थे। यथासमय उन्होंने एक सत्कुलोत्पन्ना सुंदरी-राजकुमारी से विवाह किया। राजा, सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ थे किन्तु उनके कोई सन्तान नहीं हुई। फिर राजा ने दूसरा विवाह किया, उससे भी कोई संतति नहीं हुई! इसी प्रकार तीसरा, चौथा, ऐसे लाखों-विवाह किये; किन्तु किसी भी रानी से उनके सन्तान नहीं हुई।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! एक पुरुष लाख—

करोड पत्नियों का पति कैसे हो सकता है ? यह तो हमें गप्प-सी मालूम पडती है।"

इस पर उपेक्षा के स्वर मे सूतजी बोले—"महाभाग ! यहाँ लाख-करोड कहने से इतना ही अभिप्राय समझना चाहिये कि, उनके बहुत-सी रानियाँ थीं ! शत, सहस्र, लक्ष, अयुत ये सब बहुवाचक-शब्द हैं। महाराज ! सामर्थ्यवान्-पुरुषों के लिये हजार विवाह करना कोई बडी बात नहीं। इस कलियुग मे अभी हमने, एक-एक राजा के सौ सौ दो-दो सौ पत्नियाँ अपनी आँखों से देखी हैं ! हाँ, तो उनक भी बहुत सी सुदरी—सत्कुलोत्पन्ना-महिषियाँ थीं, किन्तु थीं सबकी-सब वन्ध्या ही ! किसी एक के भी न कोई पुत्र हुआ न पुत्री।"

राजा को सभी प्रकार सुख था। स्वय सभी गुणों से सम्पन्न थे ! समस्त पृथ्वी-मडल के सार्वभौम-राजा थे, सर्वत्र उनकी आज्ञा मानी जाती थी। मत्री, पुरोहित, आमात्य तथा अन्य राज-कर्मचारी उनके अनुकूल थे। प्रजा उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यार करती थी, वे भी पुत्र की तरह सबका धर्म-पूर्वक पालन करते थे। इस भाँति सभी प्रकार की समृद्धियों के रहते हुए भी बिना सतति उन्हें सुख नहीं था ! ये सभी भोग उन्हें फीके फीके से प्रतीत होते थे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों ! गृहस्थी की शोभा बाल-बच्चो से ही है। वे बडे भाग्यशाली-गृहस्थ हैं, जिनके घर में छोटे-छोटे फूल से हँसते हुए बाल-गोपाल इधर से उधर किलकारियाँ मारते हुए घूमते हैं ! जैसे कमल के बिना सरोवर की शोभा नहीं, जैसे पति के बिना स्त्री की शोभा नहीं, जैसे सिन्दूर के बिना सुहागिन की शोभा नही, जैसे छत्र चॅवर के बिना राजा की शोभा नही, जैसे विद्या बिना ब्राह्मण की शोभा नही, जैसे चन्द्रमा के

बिना रात्रि की शोभा नहीं, जैसे दीपक के बिना अँधेरे-घर की शोभा नहीं—इसी प्रकार बिना बालक के गृहस्थी की शोभा नहीं होती। जिनके धन-सम्पत्ति अटूट है और घर में; उसे आगे भोगनेवाला कोई पुत्र नहीं तो उन्हें या तो भगवान को अपना पुत्र मानकर रात्रि-दिन उसी के लाड़चाव में लगे रहना चाहिये या धन को धर्म के काम में व्यय करके बन में चले जाना चाहिये। जो दो में से एक भी नहीं करता—धन को संग्रह करके, जोड़ कर रखता जाता है—न स्वयं खाता है न दूसरों को खाने को देता है, तो वह जीते जी नरक भोगता है तथा मरकर भी प्रेत बनकर उसी धन पर मँडराता रहता है और अंत में नरकों की अग्नि में पचता है। पुत्र के बिना गति नहीं, शांति नहीं, सुख नहीं।"

महाराज-चित्रकेतु ने पुत्र प्राप्ति के लिये विविध-उपाय किये। जिसने जो कुछ भी दान, धर्म, व्रत, उपवास बताये—सब किये-कराये! किन्तु उन्हें पुत्र का मुख देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। इसी से राजा सदा उदास बने रहते थे। उनका किसी काम में मन नहीं लगता था।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! आप ही अच्छे हैं, जो इन स्त्री-बच्चों के झंझट में आरम्भ से ही नहीं पड़े। महाराज! क्या बतावें—यह कैसा चक्कर है कि इसमें जो फँस जाता है; भगवान ही निकाले तो निकल सकता है। पुत्र न होने पर जो दुख होता है, उसे आप लोग बिना घर-द्वारवाले-बाबाजी क्या समझ सकते हैं। अतः उसका मैं अधिक वर्णन आपके सामने नहीं कर सकता। करूँ भी तो व्यर्थ है! तीन चार वर्ष की लड़की के सम्मुख ससुराल के सुख का कितना भी वर्णन करो—वह समझ ही नहीं सक्ती! सो, मुनियों! अब इस प्रसंग को यहीं समाप्त करके आगे की रोचक-कथा सुनाता हूँ।"

छप्पय

किन्तु न तिनके पुत्र हतो सब बन्ध्या रानी ।
यातें नृप के चित्त माहिं नित रहै गलानी ॥
सब सुख विषवत् लगें, भार सम शासन लागत ।
निशि दिन चिन्ता रहे, भूपकूँ सोवत-जागत ॥
दान, धर्म, व्रत, नियम, जप, करें पुत्र हित बहु नृपति ।
किन्तु न संतति सुख लह्यो, तातें चिन्तित भये अति ॥

महाराज चित्रकेतु के महल में अङ्गिरा-मुनि का आगमन

(४१६)

तस्यैकदा तु भवनमङ्गिरा भगवानृषिः ।
लोकाननुचरन्नेतानुपागच्छद् यदृच्छया ॥*
(श्रीभा० ६ स्क० १४ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

एक दिना नृप भवन अङ्गिरा-मुनिवर आये ।
करि सेवा सत्कार कनक-आसन बैठाये ॥
पूछी मुनि कुशलात नृपति की नीति बताई ।
पुनि पूछे, नृप रह्यो कमलमुख कस मुरझाई ॥
चित्रकेतु बोले विभो ! कहूँ कहा प्रभु विज्ञ हैं ।
तप समाधि अरु योग तें, आप नाथ सर्वज्ञ हैं ॥

संसार में सभी वस्तु सुलभ है । किन्तु सन्त समागम, सत्संग ही एकमात्र दुर्लभ-वस्तु है । संसार में वे लोग धन्य हैं; जिन पर किसी साधु-संत की कृपा है । इस गृहस्थी रूपी अंधकूपमें निरंतर दुख ही दुख है । यह विपत्तियों का भण्डार और चिन्ताओं का

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! उन राजा चित्रकेतु के महल में एक दिन दैवयोग से सभी लोकों में विचरते हुए भगवान-अंगिरा-ऋषि आ पहुँचे ।"

घर है! नित्य ही नई चिन्तायें लगी रहती हैं। आज यह वस्तु नहीं; आज इसका अभाव है, आज यह टूट गई तो; आज यह मलिन हो गई है, कल वहाँ जाना है, आज यह लाना है! आज स्त्री बीमार तो कल बच्चे का ही स्वास्थ्य गड़बड़ है। आज स्वयं भूख नहीं लगती—ज्वर हो आया है; सिर में पीड़ा हो रही है। सारांश कोई क्षण ऐसा नहीं बीतता जिसमे कोई चिन्ता न लगी हुई हो। वही समय सार्थक है जिस समय घर मे साधु संत आ जायें! महात्माओं के सत्संग मे जो क्षण बीत जायें वे ही अमूल्य हैं, वे ही सार्थक हैं—सुखमय हैं। शेष तो दुख ही दुख है।

साधु संग, बड़े सौभाग्य से पूर्वजन्मों के महान पुण्यों से प्राप्त होता है। वे गृहस्थी परम भाग्यशाली हैं जिनके घर कभी-कभी सन्त कृपा करते हैं—जिनका आंगन, सन्तों की पदधूलि से पवित्र हो गया है—जिनके घरमें महात्माओंके पैरों का धुला हुआ जल पड़ गया है और जिन्हें साधु-सेवा करने का सुयोग प्राप्त हो गया है! साधु सबके घर नहीं जाते, किसी-किसी भाग्यशालीके घर को ही वे पावन बनाते हैं। किसी सुकृतिको ही वे सेवा का सुअवसर प्रदान करते हैं।

शास्त्रकारों ने साधु-सेवाको भगवत्-सेवा से भी बढ़कर बताया है। भगवान की सेवा मे तो केवल भगवान की ही अर्चना होती है; किन्तु भगवत्-भक्तकी सेवामें भक्त और भगवान—दोनो की—सेवा हो जाती है। सौभाग्य से हमारे घर मे संतोंने पदार्पण किया, अपने ही उनके लिए भोग बनाया! संत ऐसे तो हैं नहीं कि बनती गई और उड़ाते गये। वे पहिले भगवान का भोग लगाते है तब प्रसाद पाते हैं। रसोई बनी तो भगवान का भी भोग लगा और संतों ने भी प्रसाद पाया। इसीलिए भगवान के

भोग को महाप्रसाद कहते हैं और उस 'महाप्रसाद' को भक्त पाकर जो उच्छिष्ट छोड़ देते हैं; वह महा-महाप्रसाद कहलाता है! इसी प्रकार हमने संतों के निमित्त माला बनाई। संत बिना भगवान को चढ़ाये—बिना निर्माल्य बनाये तो धारण करते नहीं! पहिले माला भगवानको चढ़ी तब संतोंने धारण किया दोनों ही की सेवा हो गई। इसी प्रकार वस्त्र,चंदन, अनुलेपन सभी में समझनाचहिये। संत की सेवा से जितने भगवान सन्तुष्ट होते हैं, वैसे अपनी सेवा से सन्तुष्ट नहीं होते।

जिन भाग्यशालियों के घर संत निवास करते हैं, वे घर साधारण-घर नहीं रह जाते—वे तो तीर्थ-स्वरूप बन जाते हैं। संतों के जहाँ पैर पड़ गये, जहाँ उन्होंने भगवान की पूजा-अर्चा करली,जहाँ उन्होंने भगवानके सुमधुर-नामोंका कीर्तन और उनकी यश सम्बन्धी कथा कहदी, वह भूमि तो परमदिव्य बन जाती है। संत ही इस पृथिवी को पावन बनाये हुए हैं। देवता, ब्राह्मण, गऊ, संत और सती ये ही पृथिवी को धारण किये हुए हैं। इनके बिना संसार रह नहीं सकता! पहिले तो सन्त किसी भाग्यहीन-पापी के यहाँ जाते नहीं, यदि चले जावे तो उसका भाग्य बदल जायगा, वह पापात्मा से पुण्यात्मा बन जायगा। उसका बेड़ा पार लग जायगा, वह संसार-बन्धन से सदा के लिये निश्चय-ही छूट जायगा।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! शूरसेनाधिप-महाराज-चित्रकेतु; संतति के बिना सदा उदास और चिंतित रहा करते थे, एक दिन दैवयोग से लोक-लोकों में घूमते-घामते भगवान-अंगिरा-मुनि वहाँ आ पहुँचे। मुनिवर-अंगिरा को आते देख कर महाराज चित्रकेतु सहसा अपने आसन के उठ खड़े हुए। अत्यंत ही श्रद्धा सहित मुनि, का सत्कार किया,

पुरोहित को बुलाकर विधिवत् उनकी पूजा की ! पाद्य अर्घ्य आचमनीय और फल-फूल देकर मुनि को संतुष्ट किया। जब अतिथिका

समुचित समस्त शिष्टाचार और सत्कार हो चुका

प्रसन्न हुए ! खड़े हुए राजा को बैठ जाने की आज्ञा दी। मुनि की आज्ञा पाकर उनके समीप ही—नीचे आसन पर—हाथ जोड़े हुए राजा बैठ गये।"

राजा को विनय पूर्वक समीप बैठे देख कर मुनिवर-अङ्गिरा उनको कुशल पूछते हुए बोले—"राजन् ! कहिये आप के राज में सब सुखी तो हैं ? राजा स्वयं एक ब्रह्मांड होता है। जैसे ब्रह्माण्ड पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और अहंतत्व एवं महत्तत्व इन सात आवरणों से सदा घिरा रहता है। उसी प्रकार राजा के भी स्वामी, आमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दंड और मित्र ये सात-आवरण बताये हैं। राजा इनके बिना रहता ही नहीं। इनसे वह निरंतर घिरा रहता है, ये राजा के आवश्यक-अंग हैं ! बताइये; आप इन सातों के सहित सुखपूर्वक तो हैं ?"

हाथ जोड़कर राजा ने कहा—"भगवन् ! यह सब तो आप की कृपा ही है, ये सभी प्रकृतिरूपा-आवरण तो मेरे अनुकूल ही हैं।"

इस पर अङ्गिरा-मुनि ने कहा—"जब आप की ये सातों प्रकृतियाँ आप के अनुकूल हैं; तब तो आपको राज्य का पूर्ण-सुख होना चाहिए। आप को किसी प्रकार की चिन्ता न होनी चाहिए आप का मुख-कमल सदा खिला रहना चाहिए; किन्तु मैं देखता हूँ आप का मुख म्लान हो रहा है ! आप का अन्तःकरण संतुष्ट नहीं है, चित्त में प्रसन्नता नहीं, मुख की आकृति से कोई गहरी-वेदना स्पष्ट झलक रही है।"

"एक बात और भी है ! स्वयं तो प्रकृतिके अनुकूल चले किन्तु उसके आश्रय में रहने वाले किसी कारण उसके अनुकूल न हों, विरुद्धाचरण करें तो भी कार्य नहीं बनता। इससे भी राजा की शांति में विघ्न पड़ता है। मैं पूछना चाहता हूँ—तुम्हारी रानियाँ

तुम्हारे अनुकूल आचरण तो करती हैं न ? उनमें किसी कारण से दुराचार का प्रवेश तो नहीं हो गया है ? आपकी प्रजा के लोग आप से हृदय से सन्तुष्ट हैं न ? वे अराजकता तो नहीं फैलाते ? आपकी आज्ञाओं का उल्लंघन तो नहीं करते ? आपके आमात्य, राज्य का प्रबंध सुचारु-रीति से तो करते हैं—उनमें प्रजा से अनुचित-द्रव्य ठगने की लत तो नहीं पड़ गई है ? आपके सेवक, धर्म समझ कर श्रद्धा सहित तो सेवा करते हैं—वे केवल लोभ से, अनिच्छापूर्वक बे-मन से कार्य तो नहीं करते ? आपके राज्य के व्यापारी बहुत छल-कपट तो नहीं करते ? आवश्यकता से अधिक झूठ बोलकर वस्तुओं को तेज तो नहीं बेचते, समय समय पर वे आप को राज्य-कर तो देते रहते हैं ? आपके मंत्री अच्छी-सम्मति तो सदा देते रहते हैं न ? ऐसा तो नहीं है कि, वे आपके शत्रुओं से भीतर ही भीतर मिले हुए हों और आपको उलटी-पलटी बातें सुझाकर राज्यच्युत करना चाहते हों !? आपके पुरवासी आपके अनुकूल तो हैं, आप में उनकी श्रद्धा तो बनी हुई है ? नगर को छोड़कर और भी समस्त देशवासी आप में पूर्ण अनुराग तो रखते हैं ? आपकी सदा भलाई तो चाहते रहते हैं ? सभा में बैठनेवाले आपके सामन्त-गण आपके आधीन तो हैं, उनका भी आपके प्रति सहज-स्नेह तो बना रहता है ? आपके राजकुमार आपकी आज्ञाओं का पालन तो करते हैं और राज-काज में आपका हाथ तो बँटाते हैं ?"

राजकुमार शब्द सुनकर राजा की उदासीनता और भी बढ़ गई, वे दुःखित चित्त से बोले—"प्रभो ! आपने जिन सबका नाम लिया है वे सब मेरे अनुकूल ही हैं। कोई भी विरुद्ध आचरण नहीं करता, सभी मुझे प्राणों से भी अधिक प्यार करते हैं।"

इस पर शीघ्रता के साथ मुनि बोले—"तब आप इतने चिन्तित और दुखी क्यो हैं ? राजा के दुख के कारण तो यही हो सकते हैं—किसी शत्रु ने चढाई कर दी हो, कोई अपनी प्रजाका अग विरुद्ध हो गया हो, राज्यमे अकाल पड गया हो, दुर्भिक्ष हो गया हो,ये सब बाते आपके राज्यमे हैं ही नहीं ! फिरभी आप सुखी नहीं हैं—चिन्ताग्रस्त हैं, अतः आप मुझे अपने दुख का कारण समझाइये, मुझे अपनी विपत्ति का बीज बताइये। प्रतीत होता है—आपको कोई मानसिक व्यथा है, क्योंकि मन के दुखी होने से ही दुखी और मन के सुखी होने से ही मनुष्य सुखी होता है ! जिसका मन अपने वश मे है, उसके वश मे सभी हो जाते हैं ! देवता, लोकपाल तक उसकी आज्ञा का पालन करते हैं, सदा उसके अनुकूल आचरण करते रहते हैं। अपने स्नेहियों, हितैषियों और शुभचिन्तकों के सम्मुख दुख प्रकट करने से वह बँट जाता है—चित्त हलका हो जाता है, अतः तुम मेरे सम्मुख अपने दुख का कारण बताओ।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"हे उत्तरानन्दन ! मुनि तो त्रिकालज्ञ थे, उनसे कौन सी बात अविदित थी, फिर भी बात चलाने के निमित मुनि ने राजा से इस प्रकार के प्रश्न किये।"

भगवान-अंगिरा-मुनि के पूछने पर हाथ जोडे हुए अत्यंत ही विनीत-भाव से लजाते हुए—अपने अंगों को अपने आप में ही छिपाते हुए—राजा उनसे बोले—"भगवन् ! आप मुझसे ये सब बातें इस प्रकार पूछ रहे हैं—मानो कुछ आप जानते ही नहीं ! जैसे साधारण लोग प्रश्न करते हैं उसी प्रकार आप मुझसे पूछ रहे हैं। प्रभो ! जिनकी पाप—वासनायें सर्वथा नष्ट हो गई हैं उन योगीश्वरों को प्राणियों के बाहर-भीतर रहने वाली ऐसी कौन सी वस्तु है—जिसे वे अपने तप ज्ञान और समाधि के प्रभाव

से न जानते हो !? आप सर्वज्ञ हैं—भूत भविष्य तथा वर्तमान तीनो कालों की वातो को हाथ मे रखे ऑवले की भॉति देखते हैं। फिर भी आप मुझसे मेरी मानसिक-व्यथा का कारण पूछते हैं तो इसमे मुझे आपके त्रिकालज्ञ होने में सदेह नहीं होता, मैं समझता हूॅ आप मेरे ही मुख से कहलवाना चाहते हैं। अतः आप के सशय को दूर करने के अभिप्राय से नही—आपकी आज्ञा समझकर ही मैं बताता हूँ। आपसे कुछ छिपा तो है नही, किन्तु आप मुझे प्रेरित कर रहे हैं—आज्ञा दे रहे हैं, उसका उल्लघन भी कैसे करूँ ?'

"मुनिवर ! मेरे यहॉ सभी प्रकार के सुख हैं। मुझे किसी के द्वारा कोई कष्ट नहीं। प्रजा, पुरोहित, आमात्य, मन्त्री सभी मेरे अनुकूल हैं। मेरी ऐसी कोई इच्छा नही जो तत्त्वण पूरा न होती हो ! किन्तु प्रभो, इतना सब होने पर भी मुझे सुख नही, शाति नही, ये सब सम्पत्तियॉ मुझे उसी प्रकार काटने दौडती हैं जैसे भूख-प्यास से व्याकुल पुरुषको अन्नजलके अतिरिक्त सभी विषय-भोग दुखद प्रतीत होते हैं। भूखेको अन्न न देकर उसे मालाये पहिनाओ, सुन्दर-शैय्या पर सुलाओ, पङ्खा करो, चन्दन लगाओ, तैल-मर्दन करो, सुगन्धित द्रव्य लगाओ यद्यपि ये सब सुख देनेवाली वस्तुएँ हैं किन्तु क्या इनसे उसे सुख होगा ? युवती पत्नी है, पति उसके भोजन वस्त्र का यथेष्ट प्रबध करता है, भोग की सभी सामग्री अत्यधिक मात्रा में देता है, सहस्रों-सेविकायें लगा रखी हैं, किन्तु पति उसके समीप जाता ही नहीं—उसे दर्शन तक नही देता तो क्या ये सब सुखोपभोग की वस्तुएँ उसे प्रसन्न कर सकेंगी ? इसी प्रकार भगवन् ! मेरे यहॉ सब सामग्रियॉ हैं, किन्तु पुत्र के बिना सभी फीकी हैं ! सतान के बिना ये अमृतोपम-विषय विष के समान मुझे प्रतीत होते हैं।"

इस पर मुनि ने पूछा—"तुम्हारे कितनी रानियाँ हैं ?"

राजा ने दुखित होकर कहा—"महाराज, रानियों की संख्या न पूछें ! असंख्यों हैं—किन्तु मेरा ऐसा भाग्य खोटा है, बड़ी खोज में एक के पश्चात् दूसरा; दूसरे के पश्चात् तीसरा ऐसे अनेकों विवाह किये, किन्तु सबकी सब बाँझ निकल गईं। किसी के भी पुत्र नहीं हुआ। यदि आपकी मेरे ऊपर कृपा है; यदि आप मुझे अपना सेवक समझकर सुखी बनाना चाहते हैं, तो मुझे अधिक नहीं कम से कम एक पुत्र तो देवें ही।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाराज-चित्रकेतु की यह बात सुनकर मुनि कुछ सोच में पड़ गये और इस राजा का कल्याण कैसे हो इसका विचार करने लगे।"

छप्पय

निष्कल्मष है सन्त-आचरण तम नहिँ तिनकूँ ।
भूत भविष्यत वर्तमान दीखे सब उनकूँ ॥
बड़भागी ते गृही सन्त जिनिके घर आवें।
करि पूजा, स्वीकार विष्णु परसादी पावें ॥
होहिँ दुखित दुख दूरि सब, करें कृपा यदि ते कहीं।
घट-घट की जानत सकल अविदित तिनकूँ कछु नहीं ॥

—:Ⓢ:—

महाराज की मुनि से सन्तान याचना

(४२०)

लोकपालैरपि प्रार्थ्याः साम्राज्यैश्वर्यसम्पदः ।
न नन्दयन्त्यप्रजं मां क्षुत्तृट्काममिवापरे ॥
ततः पाहि महाभाग पूर्वैः सह गतं तमः ।
यथा तरेम दुस्तारं प्रजया तद् विधेहि नः ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० १४ अ० २५,२६ श्लो०)

छप्पय

तोऊ आशा मानि दुख को हेतु बताऊँ ।
प्रजानाथ सम्राट जनेश्वर हौं कहलाऊँ ॥
सब सुख मेरे यहाँ किन्तु सुत एक न स्वामी ।
ताई तें अति दुखी रहूँ मुनि अन्तर्यामी ॥
प्रभु सर्वज्ञ समर्थ हो, कृपा कृपानिधि करो तुम ।
देउ एक सुत मनोहर, बने लोक परलोक मम ॥

गृहस्थियों के यहाँ स्वार्थी ही लोग जाते हैं, क्योंकि वे सदा स्वार्थ में ही संलग्न रहते हैं। जैसी प्रकृति का मनुष्य होगा,

---

*महाराज चित्रकेतु अङ्गिरामुनि से कह रहे हैं—"मुनिवर ! मेरी साम्राज्य ऐश्वर्य तथा सम्पत्ति इतनी है कि लोकपाल भी करते हैं, किन्तु वह भी मुझ पुत्रहीन को इसी प्रकार प्रसन्न सकती जिस प्रकार भूख-प्यास से व्याकुल व्यक्ति को

उसका वैसे ही लोगों से सम्बन्ध और संसर्ग रहेगा। किसी भाग्यशाली, पुण्यात्मा, सुकृति-पुरुष के यहाँ यथार्थ में संत कृपा करते हैं। उसकी सेवा को स्वीकार करके उसे कृतार्थ किया करते हैं। संतो के दर्शनो से पातक दूर होते हैं। संतों का दर्शन कभी व्यर्थ नहीं जाता, वह अमोघ होता है। संतों से संसार में आज तक किसी का भी अनिष्ट नही हुआ है। वे अकारण—अपकार करने वालों पर भी—कृपा करते हैं; द्वेष करने वालों से भी प्रेम करते हैं, निंदा करने वालों का भी आदर करते हैं। वे जैसा अधिकारी देखते हैं वैसा ही उपदेश देते हैं। अति-अधिकारी के दुख को दूर करके उसे परमार्थ की ओर लगाते हैं। अर्थार्थी को अर्थ देकर उससे अंत वैराग कराते हैं। मुमुक्षु को मोक्ष का मार्ग बताकर उसे ज्ञान के सुखद-सोपानों से ऊपर चढ़ाते हैं। ज्ञानी को,भगवद्-भक्ति का—प्रभु-प्रेम का—पाठ पढ़ाते हैं और भक्तों को हरिकथा सुनाकर सुख देते हैं। उनसे कभी किसी का न तो अहित हुआ और न कभी किसी का अनिष्ट होगा ही! संतों का रोम-रोम परोपकार के लिये होता है, उनकी स्वांस—स्वांस से कृष्णनाम का उचारण होता है। वे परकार्यों को साधने के कारण ही संत कहाते हैं।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब राजा-चित्रकेतु ने मुनि से पुत्र देने की प्रार्थना की तो मुनि ने कहा—राजन्, सब वस्तुएँ भाग्य मे प्राप्त होती हैं। मालूम होता है। आप के

आदि भोग सुखी नहीं कर सकते। हे महाभाग! पुत्र के बिना मैं अपने पूर्वज-पितरों के सहित नरक में जा रहा हूँ, आप मेरी नरकसे रक्षा करें। आप कोई ऐसा उपाय करें कि, परलोक में 'पुं'नामक नरक को पुत्र पाकर पार कर जाऊं।"

भाग्य में पुत्र-सुख बदा नही है, तभी तो इतनी रानियो के होते हुए भी किसी एक के भीसंतान नही हुई। इसलिये आप भगवान का भजन करें, इस पुत्र-पौत्र की मोह—ममता को छोड़ दें!"

राजा का मन तो पुत्र मे लगा हुआ था, उस समय उसके मन में तो पुत्र की ही कामना थी,अतः वह हाथ जोडकर मुनि से बोले—"प्रभो ! इस समय मुझे कुछ भी अच्छा नही लगता। बिना पुत्र उत्पन्न हुए मुझे कभी भी शांति न होगी, न मेरा भगवान मे चित्त ही लगेगा। मुझे तो जैसे भी हो पुत्र दीजिए ! रही भाग्य की बात, सो संत तो विधि के रेख पर भी मेख मार सकते हैं— भाग्य को भी उलट सकते हैं ! प्रारब्ध को भी अन्यथा करते हैं, संतों में बडी सामर्थ्य होती है। मैंने इस सम्बन्ध मे संतों के ही मुख से एक कहानी सुनी है; आज्ञा हो तो उसे सुनाऊँ ?"

यह सुनकर अङ्गिरामुनि बोले—"राजन् ! सन्तों की महिमा वाले इतिहास को आप अवश्य सुनावें। क्योंकि संसार में दो ही तो सुनने के लिये अत्यंत सुघड हैं,या तो हरिदासोंके चरित्र या श्रीहरि के चरित्र ! हाँ-तो, किस संत ने भाग्य को अन्यथा कर दिया, किसने विधि के लेख पर मेख मार दी—सुनाइये।"

मुनि की आज्ञा पाकर राजा चित्रकेतु कहने लगे—"प्रभो ! मैंने कथा कहने वालों के मुख से यह कथा सुनी थी, बात प्राचीन है। एक बडे ही धनिक—श्रेष्ठी थे, उनके यहाँ अटूट धन-सम्पत्ति थी। सर्वत्र उसका व्यापार चलता था। घर मे सभी प्रकार की सुख सामग्रियाँ थी, किन्तु उनके कोई पुत्र नहीं था। श्रेष्ठी की पत्नी बड़ी धर्मपरायणा थी, पति को वह प्राणों से भी अधिक प्यार करती, उसकी इच्छानुसार बर्ताव करती। श्रेष्ठी; साधु सेवी था, जो भी साधु-सन्त आते उनका सत्कार करता,

उनकी पूजा करता। श्रेष्ठी-दम्पति सन्तान के बिना सदा मेरी ही भाँति चिन्तित रहते थे। एक बार दैवयोग से घूमते फिरते नारद जी उनके घर पधारे। देवर्षि-नारद को देखकर दोनों—पति पत्नी परम प्रसन्न हुए और उनका यथोचित आदर-सत्कार किया, विधिवत षोडशोपचार पूजा की। श्रेष्ठी की पूजा को स्वीकार करके नारद जी ने उनकी कुशल पूछी।"

अपनी कुशल बता कर श्रेष्ठी ने पूछा—"प्रभो! आप कहाँ से आ रहे हैं और अब कहाँ जाने वाले हैं?"

नारदने कहा—'भाई, जनलोक में ऋषियों का एक सत्र था उसी में सम्मिलित होने मैं गया था। अब मैं भगवान-विष्णु के दर्शन करने विष्णुलोक जा रहा हूँ।"

श्रेष्ठी ने दीनता के स्वर में कहा—"प्रभो! आप तो भगवान के पार्षद हैं, परोपकार ही आप का व्रत है। नित्य भगवान के यहाँ आते जाते रहते हैं। मेरा एक काम कर लावेंगे क्या?"

नारदजी ने कहा—'बताओ, मैं तुम्हारा कौन सा कार्य कर लाऊँ। मेरे योग्य जो कार्य हो उसे करने के लिये सदा प्रस्तुत हूँ।"

श्रेष्ठी ने कहा—"भगवन्! आपके लिए क्या योग्य क्या अयोग्य। आप तो सर्व समर्थ हैं, जो चाहें कर सकते हैं। मुझे एक बड़ी चिन्ता रहती है। मेरे यहाँ इतनी अतुल-सम्पत्ति है, किन्तु आगे इसका उपभोग करने वाला तथा पितरों को पानी देने वाला कोई मेरे पुत्र नहीं है। यह सब वस्तुएँ भाग्य से प्राप्त होती हैं। मैं केवल यह जानना चाहता हूँ कि मेरे भाग्य में पुत्र है या नहीं। यदि नहीं, तो मैं निश्चिंत होकर साधुसेवा ही करूं।

होवे तब तो आप यह पूछ आवे कब होंगे ? इस प्रकार दुविधा में चित्त सदा व्याकुल रहता है !"

नारदजी ने कहा—' बहुत अच्छी बात है,मै आज ही जाकर भगवान से पूछूँगा और आज ही तुम्हे इसका उत्तर भी दे जाऊँगा।"

इतना कहा और नारदजी अपनी वीणा उठा विष्णुलोक की ओर चल दिये। विष्णुलोक मे पहुँचकर उन्होंने भगवान की स्तुति की, गाना गाया और सुमधुर-कीर्तन सुनाया। नारदजी की स्तुति सुनकर भगवान बड़े प्रसन्न हुए और पूछा— "नारदजी इस समय आप कहाँ से आ रहे हैं ?"

भगवान की बात सुनकर उत्सुकता के स्वर मे नारदजी बोले—"भगवन् ! मैं इस समय मर्त्यलोक से आ रहा हूँ, आप से एक विशेष-बात पूछनी थी। वह जो श्रेष्ठी है—बड़ा साधुसेवी है। आपका भक्त है! उसको कोई सन्तान नहीं है। वह सदा इसके लिये चिन्तित रहता है; सो उसके सतान होगी या नहीं ? यदि होगी तो कब होगी ?"

यह सुनकर भगवान हँसे और बोले—"नारदजी ! आपको सदा दूसरों की चिन्ता लगी रहती है। महाभाग ! उसके भाग्य में इस जन्म की तो कौन कहे—सात जन्मों तक सन्तान नहीं है। भाग्य को अन्यथा करने में तो मै भी समर्थ नहीं।"

यह सुनकर नारदजी, भगवान को प्रणाम करके वीणा बजाते हुए पुनः क्षण भर में ही मर्त्यलोक मे आ गये और उस श्रेष्ठी से आकर कहने लगे—"भक्तजी ! अत्यत दुख की बात है, कि आपके कोई सन्तान नही हो सकती। इसी जन्म मे नही सात-जन्मों तक तुम्हारे सन्तान का योग नहीं।"

श्रेष्ठी ने कहा—"चलो, भगवन्! अच्छा हुआ जो यह बात मालूम पड़ गई। अब दुविधा तो नहीं रही। अब इस धन का मैं सदुपयोग करूँगा! साधु-संतों की सेवा और परोपकार में इसे लगाऊँगा।"

इतना कहकर नारदजी तो चले गये, अब श्रेष्ठी ने अपने उपार्जित धनका सदुपयोग करना आरंभ किया। उसने विद्यार्थियों के लिये बहुत से विद्यालय खुलवा दिये, अनाथ-बालकों के भोजन वस्त्रों का प्रबन्ध कर दिया। दीन-दुखियों के लिये अन्नक्षेत्र खोल दिये, गरीबों के लिये निःशुल्क दातव्य-औषधालय बनवा दिये, आतुरो के लिये उपचारगृह और सुश्रूषा-भवन बनवा दिये। सारांश कि—उसने अपना सारा द्रव्य परोपकार में लगा दिया! उसके यहाँ जो भी साधु-संत-महात्मा आते, उनका ईश्वर-बुद्धि से पूजन करता और सब प्रकार से सेवा करता।

एक दिन घूमते-फिरते कोई बड़े भारी विरक्त-अवधूत आ गये जो भगवान के अनन्य-भक्त थे। अहर्निश कृष्णकीर्तन करते रहते थे। एक कौपीनमात्र ही उनका संग्रह था। भक्त-दम्पति ने उनकी अत्यधिक सेवा-सुश्रूषा की। उन दोनों पति-पत्नी की सेवा से सन्तुष्ट हुए संत ने उनसे पूछा—"तुम्हारे घर में कोई सन्तान नहीं दीखती।"

दुख के साथ स्त्री ने कहा—"भगवन्! हमारे ऐसे भाग्य कहाँ? पूर्वजन्म में कुछ किया होता तो पुत्र का मुख देखने को मिलता!"

महात्मा के हृदय में दया आ गई और सहसा बोल उठे—"अच्छी बात है; जाओ तुम्हारे एक बच्चा हो जायगा।"

स्त्री ने चौंक कर कहा—"अजी महाराज! हमारे एक बच्चा हो जायगा, यह आप कैसी बात कह रहे हैं!!"

सत ने कहा—"क्या तुम एक से 'सन्तुष्ट नहीं,अच्छी बात है दो हो जायँगे।"

स्त्री ने शीघ्रता से कहा—' नहीं, भगवन्! मेरा अभिप्राय नहीं। एक हों दो हों, किन्तु क्या ऐसा सम्भव है, कि हमार सन्तान हो जाय ?"

महात्मा बोले—कहता तो हूँ हो जायँगे हो जायँगे हो जायँगे। दो नहीं तीन होंगे।

अब तो श्रेष्ठ चुप न रह सके बोले—"भगवन्! देवर्षि नारद पधारे थे, उनसे मुझे ज्ञात हुआ कि मेरे भाग्य मे सन्तान है ही नहीं। क्योंकि

बीच मे ही बात काटकर सत बोले—'नारद की ऐसी तैसी। अब कहते हैं तुम्हारे चार पुत्र होंगे।"

श्रेष्ठि वडा आश्चर्य मे पडा। उसने कहा—"भगवन्! आप मेरी बात ता सुने। नारदजी भगवान् क यहाँ जा रहे थे, मैंन उनसे पुछवाया, मेरे भाग्य में सन्तान है कि नहीं। इस पर भगवान ने कहा कि सात जन्मो तक इसके सन्तान नहीं है।"

इस पर सत बोले—"हम कहते है—"तुम्हारे सात लडके होंगे।"

अब क्या कहते सेठ जी चुप हो गये। महात्मा इच्छानुसार अन्यत्र चले गये। कुछ काल के पश्चात् सेठ की पत्नी को गर्भ रहा और वर्ष भर के पश्चात् उसने एक पुत्ररत्न का प्रसव किया। इसी प्रकार सात वर्ष में सात लडके हो गये। उस भक्त दम्पति की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। बच्चे वडे ही सुदर सुकुमार शील और सर्वगुण सम्पन्न थे। वे अपनी बाललीलाओं से माता पिता को सदा प्रसन्न करते रहते थे।

कुछ काल के पश्चात् घूमते फिरते एक दिन श्रीनारदजी फिर उसी गृहस्थ के घर आ पहुँचे। नारदजी को देखकर दोनों पति पत्नी ने उनका अत्यधिक आदर किया। सभी बच्चों ने आकर मुनि की चरण वन्दना की। माता पिता ने सभी को मुनि के चरणों मे लिटा दिया।

बच्चों को देखकर नारदजी ने आश्चर्य के साथ पूछा—"भक्तवर ! ये किनके पुत्र हैं? ये आप के घर मे क्यों रहते हैं।

हाथ जोड़े हुए उन श्रेष्ठी ने कहा—"भगवन्! ये सब आप के ही सेवक हैं?"

चौंक कर नारदजी ने पूछा—"हैं,क्या कहा ? ये सब तुम्हारे पुत्र हैं? क्या ये सब के सब सेठानी जी के गर्भ से उत्पन्न हुए हैं?"

सेठजी ने कहा—"हाँ, भगवन्! आप सब संतो की दया है। ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि ये सब संत सेवी बनें।"

नारदजी के तो आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। वे भगवान् के ऊपर खीज गये। सोचने लगे—"भगवान् ने मुझे झूठा बना दिया। यह गृहस्थी क्या सोचता होगा, कि यह नारद तो झूठे ही गप मारता है, मैं भगवान् के यहाँ जाता हूँ।" यह सोचकर नारदजी को तो बड़ा क्रोध आया। शीघ्रता से उन्होंने अपनी वीणा उठाई और खड़ाउओं को चटकाते चोटी को हिलाते राम-कृष्ण का गुन गाते भगवान् की सभा में पहुँच ही तो गये।"

भगवान् नारदजी की व्यग्रता को देखकर हँस पड़े और हँसते हुए बोले—"आइये नारदजी! कहिये कहाँ कहाँ से आये? कैसे आज अनमन से बने हुए हो?"

रोष के स्वर में नारदजी ने कहा—"अजी महाराज! रहने भी दो। आप तो मुझे सदा सबके सामने हास्यास्पद बनाते रहते है। आपको मेरी मान प्रतिष्ठा अपकीर्ति का कुछ भी ध्यान नहीं है।"

अनजान की भाँति भगवान् ने पूछा—"क्यो, क्यो नारदजी! क्या हुआ? क्या हुआ? कैसे आपका अपमान हुआ?"

नारदजी ने रोष में कहा—"महाराज! आपता कहते थे उस सेठ के भाग्य मे सात जन्मों तक संतान नहीं है। मैं तो उसके एक नहीं दो नहीं तीन नहीं पूरे ७।७ बच्चे अभी इसी जन्म में प्रत्यक्ष खेलते हुए देखकर आया हूँ। वह सोचता होगा, यह नारद बडा झूठा है, जो भगवान् की बात कहकर असत्य बातें लोगो से कहता फिरता है।"

इस पर भगवान् ने कहा—' नारदजी! इस समय तो मेरा स्वास्थ ठीक नहीं है। कल मैं आपको इसका उत्तर दूँगा।"

दूसरे दिन नारदजी गये,तो लक्ष्मीजी ने उदास होकर कहा—"आज तो भगवान् को न जाने कैसी पीडा हो गई है।"

नारदजी तो यह सुनकर घबडा गये भगवान् के समीप गये और बोले—"प्रभो! आप तो सुख दुख से रहित है आपको यह असह्य वेदना कैसे हो गई।"

भगवान् ने अन्यमनस्क भाव से कहा—'नारद! क्या बताऊँ, यद्यपि मुझे स्वय कोई कष्ट नही होता किन्तु भक्तो का कष्ट तो मुझे अपने ऊपर लेना ही पडता है। एक भक्त का ही कष्ट है, जब एक कोई भक्त ही इसका निवारण न करे, तब तक मुझे शांति नहीं, चैन नहीं, सुख नहीं।"

नारदजी ने दृढ़ता के स्वर मे कहा—"भगवन्! आप बताइये। संसार में तो आपके बहुत से भक्त है। कोई भक्तो में —

है कोई रोते हैं, कोई गाते हैं, कोई दिन भर घण्टी ही हिलाते रहते हैं। आपके लिये तो सभी भक्त सभी कुछ करने को तत्पर होंगे।"

भगवान ने कहा—"अच्छा, कोई अत्यत भक्त जीवित अपने हाथों से अपना हृदय निकाल कर दे दे तो मेरा दुख दूर हो सकता है।"

नारदजी ने शीघ्रता के साथ कहा—"भगवन् यह कौन सी बड़ी बात है। मैं तो १४भुवनों में घूमता रहता हूँ। बहुत से भक्तों से मेरा परिचय है।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी, बात है नारदजी! आप जाँय और किसी भक्त का हृदय निकलवा कर लावें, किन्तु किसी गृहस्थी भक्त के पास मत जाना। वे बिचारे तो अपने हृदय को स्त्री बच्चों को दे ही चुके हैं। ऐसे विरक्त भक्तों के ही पास जाना जो मेरे निमित्त ही लगोंटी लगाकर बाबाजी बन गये हैं। मेरा नाम लेकर ही भिक्षा वृत्ति पर निर्वाह करते हैं।"

नारदजी ने कहा—"महाराज! यह तो और भी सरल हो गया। गृहस्थियों मे भी बड़े ऊँचे ऊँचे भक्त हैं, किन्तु संभव है, कोई स्त्री बच्चे के कारण हृदय देने मे हिचकता। इन बाबाजियों के लिये क्या न आगे नाथ न पीछे पगहा। भगवान् के काम मे उनका हृदय लग जाय, तो इससे उत्तम कौन सी बात है! मैं अभी जाता हूँ।

भगवान् ने कष्ट से निःश्वास छोड़ते हुए कहा "नारदजी! हाँ जाइये। यदि ऐसे किसी भक्त का हृदय मिल जाय, तो मुझे शान्ति होगी नहीं तो इसी प्रकार तड़पता रहूँगा।"

नारदजी इतना सुनते ही अपनी वीणा को उठा कर चल दिये। वे साधुओं के पास जायँ और कहें—"भाई भगवान् को

बडा कष्ट है तुम जीते जी अपना हृदय निकाल कर दे दो भगवान् को शांति होगी।" इस वात को सुनकर कोई हँस जाते, कोई नारदजी को पागल वताते। कोई कहते नारद तो ऐसे ही ऊट पटॉग वकते रहते हैं। कोई कहते भगवान् को क्या कष्ट? कोई कहते—'अजी, भडारे रवा खाकर जो यह देह इतनी पाली पोसी है, सो क्या अपने हाथ से चीरने के लिये। कटने मरने को तो गृहस्थी ही बहुत हैं। अपने राम तो राम राम रटते हैं, भर पेट प्रसाद पाते हैं। हृदय फृदय कोई दूसरा दे।

भगवत भजन पेट का धधो। और करे सो पूरो अधो।

कोई कहते—"राम राम रटना। पराया माल अपना" कोई कहते—'राम राम लड्डू गोपाल नाम घीउ, हरि को नाम मिश्रा तू घोर घोर पिउ।

नारदजी बडे घवडाये, कि इन बाबाजियों से तो गृहस्थी ही अच्छे हैं। इधर से उधर वहुत घूमे किन्तु अपने आप हृदय निकाल कर देने वाला कोई नहीं मिला। नारदजी उदास होकर भगवान् के पास गये और दुखित मन से कहने लगे —'प्रभो! आपकी माया बडी प्रबल है। महाराज! कोई तैयार नहीं होता।"

भगवान् यह सुनकर वडे सोच मे पड गये। कुछ काल सोचकर बोले—"नारदजी! एक काम और करो। देखो, विन्ध्याचल के उस अरण्य में गगा किनारे वट वृक्ष के नीचे एक विरक्त बाबाजी पडे हैं, उनके पास और जाओ। सभव है उनके समीप जाने से कार्य हो जाय।"

नारदजी तो इसके लिये उत्सुक ही थे, गये महात्माजी के पास। देखा,एक अवधूत पत्थर की शिला का तकिया बनाये आनंद पूर्वक लेट रहे हैं। उनके दोनो अधर पुट निरतर हिल

रहे हैं। प्रतीत होता है। वे निरन्तर नामस्मरण ही करते रहते हैं। एक लंगोटी लगी हुई है, न कोई कंथा है न कमंडलु। मस्त साँड़ की भाँति निश्चिन्त पड़े है। नारदजी ने वहाँ जाते ही अपनी वीणा पर जयजय रामकृष्ण हरिका अलाप किया। अपने सम्मुख ब्रह्मपुत्र देवर्षि नारदजी को देखकर वे अवधूत उठकर खड़े हो गये और प्रणाम करके बोले—"आइये नारदजी! आप तो भक्ताग्रगण्य है। बड़े भाग्य से आपके दर्शन होते हैं। भगवान् के दर्शनों से भक्तों के दर्शन दुर्लभ माने जाते है।"

नारदजी ने कहा—"भगवन्! विष्णु भगवान् को कुछ व्यथा है वह तभी शान्त होगी जब कोई जीवित भक्त अपना हृदय निकाल कर स्वतः दे दे।"

इतना सुनते ही उन परमहंसजी ने पूछा—"नारदजी! आप छुरा लिये हैं?" नारदजी तो छुरा लिये घूम ही रहे थे बोले—"महाराज! मैं तो छुरा लिये सर्वत्र घूमा कोई विश्वास ही नहीं करता। सब कहते हैं—"भगवान् को क्या कष्ट हो सकता है। भगवान् तो स्वयं सबके कष्टों को हरने वाले हैं। इसी लिये कोई तैयार नहीं होता।"

यह सुनकर वे अवधूत बोले—"नारदजी! भगवान् को कष्ट होता है या नहीं इस विवाद मे मैं पड़ना नहीं चाहता। उन्हें कष्ट चाहे हो चाहे न हो, किन्तु जब आप इतने बड़े भगवद्भक्त कह रहे हैं, तब तो इसमें अविश्वास वाली कोई बात ही नहीं। यदि इस क्षणभंगुर देह मे भगवान् की रंचक मात्र भी प्रसन्नता हो जाय, तो इसे हम अपना बड़ा सौभाग्य समझते हैं। आप जैसे भगवद्भक्तों के कहने से उनके सम्मुख भगवान के निमित्त ये प्राण चले जाँय, यह हाड़ मांस का बना हृदय प्रभु

के काम आजाय, इससे बढकर इस अनित्य नाशवान् रोगों के घर, अशुचि शरीर का और क्या उपयोग हो सकता है। छुरा मुझे दीजिये, तत्क्षण आप हृदय लेकर जॉय। मेरे तो मन, प्राण, शरीर सब कुछ प्रभु के ही निमित्त हैं।"

राजा चित्रकेतु अङ्गिरा मुनि से कहते हैं—"भगवन्! इतना कहकर ज्यों ही उन अवधूत ने तीक्ष्ण छुरे से अपने हृदय को विदीर्ण करना चाहा, त्यों ही शङ्ख चक्रधारी वनमाली वहाँ तुरत प्रकट हो गये और उन अवधूत का हाथ पकडते हुए बोले— "ब्रह्मन्! आप तो मुझे अपना हृदय दे ही चुके हैं। मैंने उस अपनी वस्तु को इस देह रूपी मन्दिर मे रख छोडा है। आप इस मन्दिर को तोडे नहीं। मुझे जब इच्छा होगी निकाल ले जाऊँगा।"

भगवान को सम्मुख देखकर अवधूत चकित हो गये। वे आत्मविस्मृत बने प्रभु के पुनीत पादपद्मों में पड गये। उन्होंने अपने नयन सरोरुहों के शीतल जल से प्रभु के पादपद्मों का प्रक्षालन किया! नारदजी ने भी भगवान् को सम्मुख देखकर प्रणाम किया। तब भगवान नारदजी को सुनाते हुए बोले— "नारद! अब तुम्हीं सोचो, जो अपना कठिनता से छोडने योग्य घर द्वार, कुटुम्ब परिवार, स्त्री बच्चों, धन वैभव आदि सभी को छोडकर एक मात्र मेरी शरण मे आ गये है। उनकी आज्ञा का मैं उल्लघन कैसे कर सकता हूँ। ऐसे भक्त जो भी कुछ कह दे उसे अन्यथा करने की मुझमे सामर्थ्य नहीं। ऐसे अनन्य भक्तों के लिये प्रारब्ध का मेटना, विधि विधान को अन्यथा कर देना कोई कठिन काम नहीं। जब सब के भाग्य का विधाता, मैं स्वय ही उनके अधीन हूँ, तो उनके सम्मुख प्रारब्ध, दैव, भाग्य का क्या महत्त्व है। यह सत्य है उस श्रेष्ठी के भाग्य मे सात जन्मों

तक पुत्र नहीं था, किन्तु इन महात्मा के मुख से निकल गया, तो भाग्य न होने पर भी भाग्य बन गया। प्रारब्ध में न होने पर भी उसे पुत्रों की प्राप्ति हो गई। मैं अपने अनन्य भक्तों की बातों को कभी झूठी नहीं होने देता।"

इस पर नारदजी ने कहा—"तो, भगवन्! मैं भी तो आपका भक्त हूँ, मेरी बात आपने झूठी क्यों कर दी।"

हँसकर भगवान बोले—"आप भक्त है इसमें तो कुछ संदेह ही नहीं। किन्तु नारदजी बुरा न मानें तो एक बात कहूँ?"

नारदजी ने कहा—"नहीं, महाराज! बुरा मानने की कौन सी बात है, आप तो जो भी कहेंगे मेरे कल्याण के लिये कहेंगे। आपके वचन तो मेरे लिये तो शिक्षाप्रद ही होंगे।"

इस पर हँसते हुए भगवान् बोले—"नारदजी! तुमने भी तो लंगोटी लगाई है। तुम भी तो विरक्तों के शिरोमणि कहाते हो। जब मुझे विरक्त भक्त के हृदय की ही आवश्यकता थी, तो आप अपनी बगल में छूरा दबाए इधर से उधर एक लोक से दूसरे लोक में मारे मारे क्यो फिरे। तुरन्त वहीं कह देते, कि महाराज! मैं स्वयं उपस्थित हूँ मैं अपना हृदय निकाल कर दिये देता हूँ। यह सब तो आपने किया नहीं। इधर से उधर मेरे दुख में दुखी हुए घूमते रहे। भगवान् की इच्छा में इच्छा मिला कर उसके लिये उद्योग करना—प्रयत्न में लगे रहना—यह भी साधारण काम नहीं हैं। बड़ी ऊँची भक्ति है किन्तु जिन्होंने अपना कुछ रखा ही नहीं जो अनन्य हो गये है, वे मुझसे भी बढ़कर हैं, उनके लिये भाग्य का मेट देना कोई कठिन काम नहीं।"

राजा चित्रकेतु महामुनि अंगिराजी से कह रहे हैं—"सो,हे

प्रभो ! आप उन्हीं अनन्य-भक्तों में से हैं। आपके लिये प्रारब्ध का मेट देना कोई कठिन नहीं है। मैं दुखी हूँ, आर्त हूँ, संतान के बिना मुझे सुख नहीं है, शान्ति नहीं है। यदि मेरे भाग्य मे पुत्र नहीं है; तो आप अपने प्रभाव से मेरे भाग्य को मेंट दीजिये और जैसे बने तैसे मुझे पुत्र दीजिये। मैं आपकी शरण हूँ—आप मेरे स्वामी हैं. सेवक के आग्रह को स्वामी सदा पूरा किया ही करते हैं।"

राजा की ऐसी बात सुनकर सरलता के साथ महामुनि अंगिरा बोले—"राजन ! मैं वैसा भगवद्भक्त कहाँ हूँ। नारदजी के आगे मेरी भगवद्भक्ति नगण्य है। फिर भी मैं आपकी इच्छा की पूर्ति करूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियों ! यह कहकर भगवान-अंगिरा ऋषि राजा को पुत्र प्राप्ति कैसे हो, इस विषय को सोचने लगे।"

छप्पय

करि न सकें का सत विष्णुहित जे व्रत धारें।
भाग्य अन्यथा करें रेग पै मेराहु मारें॥
हरि जिनके आधीन भाग्य तिनको है चेरो।
सन्त दरस जब भये, भयो तब सब हित मेरो॥
मात-जनम सतति नहीं, नारद ते वच हरि कहे।
मत-कृपा तें सात सुत, भक्त सेट तोऊ लहे॥

अङ्गिरा मुनि की कृपा से चित्रकेतु को पुत्र प्राप्ति

(४२१)

इत्यर्थितः सभगवान् कृपालुर्ब्रह्मणः सुतः।
श्रपयित्वा चरुंत्वाष्ट्रं त्वष्टारमयजद्विभुः॥
अथाह नृपतिं राजन्भवितैकस्तवात्मजः।
हर्षशोकप्रदस्तुभ्यमिति ब्रह्मसुतो ययौ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० १४ अ० २७, २८ श्लो०)

छप्पय

चित्रकेतु सुनि विनय दया मुनिवर कूँ आई।
त्वष्टा के हित खीर ब्रह्म-सुत सविधि बनाई॥
यजन कर्यो जो बची बड़ी-महिषी कूँ दीन्हीं।
जाते होवे पुत्र अङ्गिरा आयसु कीन्हीं॥
रानी कृतद्युति मुदित अति, राजा हू हर्षित भयो।
खाइ खीर मुनि कृपातें, गर्भ नृपति पत्नी रह्यो॥

जिन्होंने सत्य का साक्षात्कार कर लिया है उनका दर्शन अमोघ होता है। जिन्हें ऐसे सतों के दर्शन हो जायँ, उनका

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज-चित्रकेतु की प्रार्थना पर परम-कृपालु ब्रह्मपुत्र भगवान अङ्गिरा मुनि ने त्वष्टा-सम्बन्धी खीर बनाकर उससे त्वष्टा देवता का हवन किया। (यज्ञोच्छिष्ट-

भव बन्धन ढीला पड जाता है। यदि कहीं उनकी कृपा हो जाय, तब तो बेड़ा पार ही है। सन्त की कृपा से कुछ कष्ट सा भी प्रतीत हो, तो उसका परिणाम सुखकर ही होगा। क्योंकि सन्त तो अत्यन्त थोडे ही समय में प्रारब्ध के भोग को पूरा करा देते है। सामान्य नियम को विशेष कृपा से नष्ट कर देते हैं। या बहुत कुछ कम कर देते हैं। तप और मन्त्रों के प्रभाव से वे नतन अदृष्ट उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'राजन ! जब राजा चित्रकेतु बार बार भगवान् अङ्गिरा मुनि से पुत्र के लिये विनय करने लगे।" तो कृपालु मुनि को उनके ऊपर दया आ गई और बोले—' राजन में आपसे एक पुत्र के निमित्त यज्ञ कराऊँगा। उससे आपके अवश्य एक पुत्र होगा।"

इतना सुनते ही राजा के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उनकी मुरझाई हुई आशा लता मुनि के अमृत रूप वचनों के पडते ही पुनः हरी भरी हो गई। प्रेम में विह्वल होकर उन्होंने मुनि को कसकर पैर पकड लिये और गद्गद् कण्ठ से कहने लगे— 'हे प्रभो ! आप ही मेरी डूबती हुई नौका के पार करने वाले सर्व समर्थ नाविक हैं। आप ही मेरी इच्छा को पूर्ण करने वाले कल्पतरु हैं। आपकी कृपा के सहारे ही मैं अपने मनोरथ रूप दुस्तर सागर को सरलता के साथ तर जाऊँगा। बताइये मैं क्या करूँ। आज्ञा दीजिये कौन कौन सी सामग्री एकत्रित करूँ।"

खीर का रानी को देकर उन्होंने कहा—"राजन् ! इस खीर से आपके एक पुत्र होगा, जो तुम्हें पहिले हर्ष भी होगा और पीछे शोक भी।" इतना कहकर अङ्गिरा मुनि वहाँ से चले गये।

राजा के ऐसे हर्ष युक्त विनीत वचन सुनकर मुनिवर अङ्गिरा ने यज्ञ की समस्त सामग्री बताई। राजा ने बड़े उत्साह के साथ समस्त सामग्री को शुद्धता और सावधानी के साथ संग्रह किया। भगवान् अङ्गिरा ने शास्त्रीय विधि से यज्ञ आरंभ किया। उस पुत्र के निमित्त की हुई इष्टि में त्वष्टा देवता की प्रधानता थी, इसीलिये मुनि ने सभी देवताओं को आहुतियाँ देने के अनन्तर त्वाष्ट्र चरु तैयार किया। उसे शास्त्रीय विधि से मंत्रों के द्वारा विधिवत् त्वष्टा देवता के निमित्त अग्नि में हवन किया। हवन करने के अनंतर जो यज्ञ शेष चरु अवशिष्ट रहा, उसे लेकर मुनि बोले—"राजन्! आपके एक ही पुत्र होगा। बोलिये, किस रानी से आप पुत्र चाहते हैं?"

एक दो रानी होतीं तो राजा बताते भी। लाखों रानियाँ थीं, सभी के मन में यह इच्छा हो रही थी, कि महाराज हमारे द्वारा ही संतान उत्पन्न करावें। सभी बड़ी उत्सुकता से महाराज के निर्णय की धड़कते हुए हृदय से प्रतीक्षा कर रही थीं। इतने में ही पुरोहित ने कहा—"भगवन्! पत्नीत्व उसी को कहा गया है, जो सबसे ज्येष्ठ श्रेष्ठा रानी हो, जिसके साथ यज्ञ की प्रधान दीक्षा ली जाती है। महाराज की बगल में जो सबसे बड़ी पट्ट महिषी महारानी कृतद्युति विराजमान हैं। इनके ही द्वारा संतानोत्पत्ति होनी चाहिये। न्यायः ये ही इसकी अधिकारिणी हैं। पुरोहित की ऐसी बात सुनकर शेष सभी रानियाँ हताश हो गईं। उनकी आशालता पर पानी फिर गया। न्यायतः महारानी कृतद्युति ही पट्ट महिषी थीं, उन्हें ही यज्ञ अवशिष्ट चरु दिया गया। शास्त्रीय विधि से राजा ने उस चरु को सूँघकर रानी को दिया। पुरोहित और ब्राह्मणों की आज्ञा से रानी ने उस यज्ञ अवशिष्ट खीर को खाया। यज्ञकी पूर्णाहुति हुई अवभृत

स्नान हुआ। महामुनि अङ्गिरा राजा से अनुमति लेकर ब्रह्मलोक को चले गये।

इधर ऋतु स्नान के अनन्तर महारानी कृतद्युति ने महाराज के सकाश से गर्भ धारण किया। राज्य भर में आनंद छा गया। रानी राजा के आनन्द की सीमा नहीं रही, किन्तु रानी की सौतो के मनमे कुछ डाह हुआ। हाय! हम वैसे ही रह गईं।

जिस प्रकार शुक्ल पक्ष का चन्द्रमा बढ़ता है, जिस प्रकार शुक्ल पक्ष में सोमलता नित्य बढ़ती है उसी प्रकार रानी का गर्भ दिन-दिन बढने लगा। जब गर्भ के दिन पूरे होने पर रानी ने एक अत्यन्त ही सुन्दर कुमार को जन्म दिया वह कुमार क्या था, सौन्दर्य की साक्षात् सजीवमूर्ति दीखता उसका मुख ऐसा था मानो चन्द्रमा को मथकर उसके सार भाग को लेकर बनाया गया हो, इतने सुन्दर सुकुमार मनोहर कुमार को देखकर माता पिता के हर्ष की सीमा नहीं नहीं।

ब्राह्मणों ने आशीर्वाद दिये। बालक के स्वस्तिवाचन पूर्वक जात कर्म संस्कार कराये। नान्दीमुख श्राद्ध के समय राजा ने असंख्य वस्तुओं का दान किया। इस प्रकार सोना, चाँदी. वस्त्र, आभूषण, ग्राम, हाथी, घोड़. करोड़ों गौओं का राजाने ब्राह्मणों और याचकों को दान किया। राजा चाहते थे मेरा पुत्र तेजस्वी यशस्वी और दीर्घजीवी हो।

श्रीशुक्देवजी कहते हैं—"राजन! जिस वस्तु की प्राप्ति में जितनी अधिक प्रतीक्षा तपस्या करनी पड़ती है, उसकी प्राप्ति में उतना ही अधिक सुखानुभव होता है। जो वस्तु जितने ही अधिक श्रम से प्राप्त होती है उसका उतना ही अधिक मूल्य होता है। भगवान यदि ऐसे ही बिना परिश्रम के जहाँ-तहाँ जिसे-तिम मिल जायँ, तो फिर उनकी प्राप्ति उतनी महत्व पूर्ण न समझी जाय। यदि कन्या को पति प्राप्ति में इतनी उत्कंठा इतनी प्रतीक्षा न करनी पड़े, केवल सरलता से दो बातें करने पर ही मिल जाय तो उससे उतना अधिक स्थाई सुख न होगा। यदि कंकर पत्थर की भाँति सोना-चाँदी जहाँ-तहाँ वैसे ही मिल जाया करें, उनके लिये श्रम न करना पड़े तो वे भी कंकड़ पत्थर की भाँति सबको प्राप्त हो सके तो सोने में और कंकड़ में अंतर ही क्या है, दोनों ही पृथ्वी के विकार हैं, दोनों ही पृथ्वी से निकलते हैं। अन्तर इतना ही है, कि कंकड़ों की अपेक्षा सुवर्ण निकलने में श्रम अधिक करना पड़ता है। उसकी प्राप्ति में कंकड़ों की अपेक्षा अधिक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। अतः वस्तु का मूल्य नहीं, उस पर जो श्रम किया जाता है; उसका मूल्य अधिक हो जाता है।

निर्धनों के यहाँ प्रतिवर्ष चूहे बिल्ली की भाँति बच्चे पैदा होते हैं। उनके पैदा होने से उन्हें उतनी प्रसन्नता नहीं होती। यही नहीं दरिद्र बड़े परिवार में अन्न वस्त्रों के अभाव के कारण

अधिक सन्तान होने से कष्ट का भी अनुभव होता है, किन्तु जिनके पुत्र हुआ ही नहीं, घर में अटूट-धन सम्पत्ति भरी पड़ी है, वे हर समय चाहते रहते हैं किसी प्रकार एक पुत्र हो जाय। पुत्र के लिये उसी प्रकार प्रतीक्षा करते रहते हैं जैसे चातक,स्वाति बूँदों की प्रतीक्षा करता रहता है। दैवयोग से उनके कहीं पुत्र हो जाय तो उन्हें जो आनन्द होगा वह वर्णनातीत है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन! चिरकाल में—बहुत दिनों की प्रतीक्षा के अनन्तर महाराज चित्रकेतु ने पुत्र का मनोहर-मुख देखा था, अतः जिस प्रकार किसी कङ्गाल को कठिनता से करोड़ों रुपये प्राप्त हो जाने पर उनमें अत्यंत आसक्ति हो जाती है उसी प्रकार अत्यंत क्लेश से प्राप्त उस प्यारे पुत्र में राजर्षि चित्रकेतु का प्रेम दिन दूना रात्रि चौगुना बढ़ने लगा। उन्हें बिना पुत्र का मुख देखे पल भर भी चैन नहीं पड़ता था। राजसभा से बीच में कई बार उठकर पुत्र का मुख देखने आते और उसके मुख को अत्यंत आसक्ति से बार बार चूमकर चले जाते। ज्यों-ज्यों बच्चा बढ़ता जाता था त्यों-त्यों उसके प्रति राजा का मोह भी अत्यधिक बढ़ता जाता था। वह राजा के बाहरी प्राणों के समान प्यारा हो गया।

छप्पय

शुक्लपक्ष को चन्द्र बढ़े ज्यों बढ़ै गर्भ त्यों।
त्यों त्यों आनँद बढ़े गर्भ दिन बीते ज्यों-ज्यों॥
समय पाइके पुत्र भयो सब लोग सिहाये।
राज माहिं सर्वत्र नगर पुर बजत बधाये॥
सुनत पुत्र के जन्म कूँ, अति आनन्दित नृप भये।
गो, धन, वर भूषन, वसन, पुर पत्तन विप्रनि दये॥

रानीकृतद्युतिकी सौतोंद्वारा सुतको विषप्रदान

(४२२)

एवं संदह्यमानानां सपत्न्याः पुत्रसम्पदा ।
राज्ञोऽसमतवृत्तीनां विद्वेषो बलवानभूत् ॥
विद्वेषनष्टमतयःस्त्रियो दारुणचेतसः ।
गरं ददुः कुमाराय दुर्मर्षा नृपतिं प्रति ॥*
(श्री भा० ६ स्क० १४ अ० ४२-४३ श्लो०)

छप्पय

दिन-दिन बाढ्यो नेह गेह-सुत तनिक न त्यागें ।
नहिँ औरनि घर जाइँ कृतद्युति महल विराजें ॥
सौतिनि मन अति डाह पुत्र नहिँ शत्रु भयो है ।
जब तें जनम्यो दुष्ट छीनि पतिप्रेम लयो है ॥
जा कटक कूँ काटि के, निष्कटक हम होहिँ कस ।
विष दे मारो शत्रु कूँ, सब मिलि निश्चय कियो अस ॥

संसार में शत्रु बाहर नहीं हैं। अपने भीतर ही शत्र छिपे हुए हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, और मत्सर ये ६ शत्र सदा

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार महारानी-कृतद्युति की सौतों का उसकी पुत्ररूप-सम्पत्ति से सन्तप्त होने से और राजा के द्वारा भी अपमानित होने के कारण उनका महारानी के प्रति अत्यन्त द्वेष हो गया। उन कठोर-हृदयवाली क्रूरचित्त-स्त्रियों की विद्वेष के

मनुष्य के भीतर बैठे रहते हैं। जिसने इन पर विजय प्राप्त कर ली; वह विश्वविजयी हो जाता है। जो इनके अधीन बन गया, उसे पग पग पर पराजित होना पड़ता है। परउत्कर्ष को देखकर हृदय में दाह होना, जलन होनी इसी का नाम ईर्ष्या है। ईर्ष्या के वशीभूत होकर प्राणी बड़े बड़े दारुण पाप कर डालता है। अपनी हानि उठाकर ही परोपकार किया जाता है, जो सदा सब से अपना स्वार्थ ही सिद्ध करना चाहता है, जहाँ स्वार्थ में तनिक सा भी व्याघात हुआ वहीं जो बिगड़ जाते हैं, वे कृपण कहलाते हैं। उनका स्वभाव क्रूर हो जाता है। सौहार्द्र उनमे रहता नहीं ये धनिक प्रायः हृदयहीन होते है, क्योंकि इनमें सौहार्द्र की मात्रा नहीं रहती। ये चैतन्य से प्रेम करना नहीं जानते। सोना चाँदी जड़ पदार्थों में ही इनका प्रेम सीमित रहता है। धन के लोभ के कारण ये चाहे जो कर सकते हैं। इसी प्रकार क्रोधी पुरुष भी किसी का प्यारा नहीं होता। क्रोध में आकर वह अपने सगे सम्बन्धियों की भी हत्या कर डालता है। यही दशा कामियों की है, काम को ही जो स्त्री पुरुष सर्व श्रेष्ठ सुख मानते हैं, उनके काम सुख में जहाँ व्याघात हुआ, वहाँ अत्यंत क्रूर हो जाते हैं, स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा कामवासना अधिक होती है, इसी लिये जो स्त्री अपने सतीत्व से भ्रष्ट हो जाती है, वह काम सुख के लिये क्रूर से क्रूर कार्य करने में नहीं हिचकती। काम के पीछे, न करने योग्य कामों को भी कर डालती है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस संसार की रचना भगवान ने कैसी विचित्र की है। कैसे विचित्र वस्तुओं के इन

कारण बुद्धि नष्ट हो गई, अतः वे [illegible] सकीं। उन्होंने उस बालक को [illegible]

जगत् का निर्माण हुआ है। जो वस्तु एक के लिये सुखकर है वही दूसरों के लिये दुख देने वाली होती है। चन्द्रमा की चाँदनी सब लोगों कर सुखकर है, किन्तु चोरों को और विरहियों को वही दुख देने वाली हो जाती है। वर्षा से सभी को सुख होता है, किन्तु जिस कुम्हार के कच्चे बर्तन बाहर रखे हैं, उसे वर्षा से दुख होता है। अपने परिजन की मृत्यु पर घरवालों को दुख होता है, किन्तु शत्रु इस संवाद से सुखी होते हैं। एक डाकू को देखकर पथिक मारे डर के थर थर काँपने लगते हैं, वही जब अपनी प्रिया के पास जाता है, तो वह सुखी होती है। इसी प्रकार इस संसार में जो सब को प्रिय हो ऐसी कोई भी वस्तु नहीं।

महाराजा चित्रकेतु की बड़ी रानी कृतद्युति के पुत्र हुआ, समस्त प्रजा को राजा रानी को अत्यंत हर्ष हुआ, किन्तु कृतद्युति की सौतो को—राजा की अन्य रानियो को—उसके कारण दुख हुआ। इसका कारण यही था, कि अब राजा महारानी कृतद्युति को ही सबसे अधिक चाहने लगे। उसी का अत्याधिक मान सम्मान होने लगा। उसी के महलों में महाराज रात्रिदिन रहने लगे। रानी का अपने फूल से सुकुमार इकलौते पुत्र पर इतना स्नेह था, कि पल भर भी वह उसे आँखों से ओझल न होने देती। राजा भी कंगाल के धन की तरह अपने पुत्र को चाहते। अब वे अन्य रानियों को भूल से गये।

अब तक तो यह बात थी, कि सभी रानियाँ एक सी थीं। किसी के भी संतान नहीं थी। राजा चाहें जिसके महलों मे चले जाते। सभी अपने को एक समान ही समझती थीं, अब तो भेद भाव हो गया। एक के पुत्र हो गया शेष वन्ध्या ही बनी रहीं। यदि वन्ध्या होने पर भी राजा पहिले की भाँति उन पर स्नेह

करते, उनका आदर सत्कार करते, तो भी उनको संतोष रहता, किन्तु राजा तो अपने पुत्र के मोह जनित स्नेह मे ऐसे विमूढ़ बन गये कि वे और सब रानियों को भूल ही गये। कृतद्युति को अपने सौभाग्य पर गर्व था, अन्य रानियाँ उससे डाह करने लगीं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'राजन्! एक ही दुःख में दुखी लोग परस्पर मे द्वेष भाव को छोडकर सहानुभूति रखने लगते हैं। ऐसा प्रत्यक्ष देखा गया है कि गंगा की बाढ मे सर्प मनुष्य दोनो बहकर किसी पेड के आश्रय मे रुक गये हैं एक पेड पर चढ़े हैं। सर्प काटता नहीं वह भी शात बना पडा रहता है। राजा की अन्य सभी रानियो को एक सा ही दुख था। सभी का राजा की ओर से तिरस्कार हो रहा था, सभी संतान हीन थीं। सभी का अन्तःकरण जल रहा था। अतः उन सब ने मिलकर गोष्ठी की। उनमे जो अपने को सर्व श्रेष्ठ सुंदरी समझती थी जिसे अपने रूप यौवन सौन्दर्य माधुर्य का अत्यधिक गर्व था, वह सब के प्रति सहानुभूति प्रकट करती हुई बोली—"बहिनो! देखो हम सब राजपुत्रियाँ हैं। हमने राजवंश मे जन्म लिया है। हम वैसे ही आ गई हों सो भी बात नहीं है, राजा ने धर्म पूर्वक शास्त्रीय विधि से हमारे साथ विवाह किया है। अब तक वे हमारा समान भावसे आदर सत्कार और सम्मान भी करते थे किन्तु जब से हमारी सौत कृतद्युति के लडका हुआ है, तब से वे हम सबका अपमान करने लगे हैं। कृतद्युति की दासियों से तो वे कैसी घुल घुल कर बाते करते हैं, किन्तु हमें देखते ही मुँह फेर लेते हैं। कभी कुशल प्रश्न भी नहीं पूछते हमारे महलों में आना तो पृथक् रहा। स्त्रियों का धन सर्वस्व पति ही है। पति के पीछे ही वे अपने को सौभाग्यवती समझती हैं। जिन स्त्रियो

का पति जिन्हें अपनी स्त्री करके नहीं मानता और सौतें जिनका दासियों के समान तिरस्कार करती हैं, उन भाग्यहीना पति-तिरस्कृता, दुर्भगा पापिनी, सतान रहिता स्त्रियों को धिक्कार है। आज हमारी भी ऐसी ही दशा है, हम सब अपने पति के द्वारा अपमानित हो रही हैं। हमारा धर्म था अपने स्वामी की सेवा करना सो हमारी इस कृतद्युति सौत ने हमारा वह भी अधिकार छीन लिया' हम धर्महीना बनी हुई हैं।"

इस पर एक दूसरी बोली—"स्त्री तो सदा से पराधीन होती आई है। उसे सदा दासी बनकर रहना पडता है। पति की आज्ञा में चलना पडता है। उसके रुख को देखकर व्यवहार करना पडता है।"

यह सुनकर तीसरी बोली—"दासी बनने मे तो कुछ दुख नहीं सुख ही है। पति की सेवा करने को मिले तो दासीपना भी श्रेष्ठ है। क्योंकि स्त्रियों को तो पति सेवा से सम्मान ही मिलता है किन्तु आज हम सब सतानहीना होने के कारण कृतद्युति की दासियों की दासियों से भी गई बाती बन गई हैं। कृतद्युति की दासियों की जो सेविकायें हैं उनसे भी महाराजा बातें कर लेते हैं किन्तु हमसे तो बोलते तक नहीं।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार स्त्रियों म परस्पर एसा ही रागद्वेषपूर्ण ईर्ष्या की बातें होती रहीं। कृत-द्युति का पुत्र सम्पत्ति से उनका हृदय सतप्त हो रहा था। राजा की उपेक्षा ने उनके जलते हुए हृदय में ईंधन का काम किया। अब तो उन दुस्साहस करने वाली क्रूरचित्ता स्त्रियों ने मिलकर निश्चय किया कि कृतद्युति का यह छोकरा ही हमारे बीच में कण्टक है इसी के होने से हम इतनी तिरस्कृता और अपमानिता

हो रही है—किसी प्रकार इसे ही मार डालना चाहिए। ऐसा निश्चय करके उन्होंने एक दिन सोते हुए बच्चे को चुपके से

तीक्ष्ण विष दे दिया। बच्चा विष खाते ही मर गया।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन ! इन स्त्रियों के हृदय का पता नहीं लगता। ये जितनी ही स्नेहमयी कोमलहृदया दयामयी और सरला होती हैं, उतनी ही द्वेष उत्पन्न होने पर क्रूरहृदया और दुस्साहस कर्म करने वाली बन जाती हैं। जब ये अपने धर्म मे स्थित रहती हैं तब तो साक्षात् लक्ष्मी रूपा गृह की कामधेनु के समान सुखकारी होती हैं जब ये काम के वशीभूत होकर ईर्ष्या द्वेष आत्मग्लानि और प्रतिहिंसा के अधीन हो जाती हैं। तो साक्षात रणचण्डी भयावनी और राक्षसी बन जाती हैं। उस समय ये कठिन से कठिन क्रूर कर्म कर सकती हैं। पति को मार सकती हैं, पुत्र की हत्या कर सकती हैं भाई, माता पिता सभी को विष दे सकती हैं और स्वयं भी कूएँ मे कूदकर, विष खाकर, फाँसी लटका कर आत्मघात कर सकती हैं। जितनी ही ये स्वभावसुलभा कोमलांगी होती हैं उतनी ही कामवश होकर तीक्ष्ण हृदया क्रूरा बन जाती हैं।"

महाराज चित्रकेतु की पत्नियों की बुद्धि सौत के सौभाग्य को देखकर विद्वेष से नष्ट हो गई थी। उन्हें राजा का इतना अधिक पुत्र स्नेह सहन न हो सका उनके मनमें यह कुबुद्धि बैठ गई, कि इसी के कारण हमारा अपमान होता है। अतः विष दे कर उसके जीवन का अन्त कर दिया।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! यह प्राणी कितने २ ऊँचे मनोरथ करता है, अन्त में उसके सब मनोरथ विफल हो जाते हैं। महारानी कृतद्युति तो सोच रही थी मेरा सलौना सुत सुख से सो रहा है, किन्तु वह तो सदा के लिये सो गया था। वह तो इस लोक को त्याग कर परलोकवासी हो गया था। कृतद्युति बार बार सोचती आज अभी मेरा लाल जागा नहीं क्या

बात है। कई बार इच्छा होती जाकर देखूँ, फिर सोचती मेरे जाने से उसकी नींद मे विक्षेप होगा। कच्ची-नींद मे जाग जायगा तो सिर मे पीडा हो जायगी। यही सोचकर वह महल में इधर से उधर घूमती रही परन्तु बच्चे के समीप नहीं गई।"

छप्पय

भई सबनि की बुद्धि भ्रष्ट ईर्ष्या मन आई।
सोवत शिशु कूँ एक दिवस विष दयो खबाई॥
मर्यो सौति को पुत्र सबनि मन सुख अति होवे।
इत कृतद्युति निश्चिन्त कुमर मम सुखतें सोवे॥
कचो नींद जगे लला, नहिँ अनचन मन मोहि कहिँ।
ममता वश अस सोचिकैं, सुतहिँ जगावत मातु नहिँ॥

———

मृत पुत्र के लिये माता-पिता का शोक

(४२३)

पतिं निरीक्ष्योरुशुचार्पितं तदा
मृतं च बालं सुतमेकसन्ततिम् ।
जनस्य राज्ञी प्रकृतेश्च हृद्रुजम्
सती दधाना विललाप चित्रधा ॥❀
(श्री भा० ६ स्क० १४ अ० ५२ श्लो०)

छप्पय

देर बहुत जब भई मातु मन भय अति लाग्यो ।
नित तो सोवत नेक आज अब तक नहिँ जाग्यो ॥
धाइ पठाई तुरत लला कूँ ले आ प्यारी ।
धाइ जाइ लखि मृतक सुतहिँ किलकारी मारी ॥
हाय ! अभागिनि लुटि गई, हाय दई ! जिह का भई ।
हा ! मम छौना ! लाल ! सुत ! यों कहि दासी गिरगई ॥

सुख दुख का परस्पर में समान रूप से सम्बन्ध है । जिसके संयोग में जितना ही अधिक सुख मिलेगा, उसके वियोग में हमें

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महारानी कृतद्युति अपने इकलौते पुत्र को प्राणहीन देखकर तथा पति को अत्यन्त शोकाकुल देखकर, सम्पूर्ण प्रजा तथा मन्त्री आदि के हृदयों में शोक उत्पन्न करती हुई विविध प्रकार से करुण विलाप करने लगी ।"

उतना ही अधिक दुख होगा। दुख का लघुत्व गुरुत्व व्यक्ति के ऊपर निर्भर नहीं। वह तो सम्बन्ध के ऊपर निर्भर है। हमारा जिससे जितना ही अधिक स्नेह होगा उसके वियोग मे उतना ही अधिक दुःख होगा। हम तो स्मशान क समीप रहते हैं। नित्य ही मृतक पुरुषों को देखते हैं, कुछ भी दुःख नहीं होता क्योंकि उनसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। कोई कहता है, तो हम उपेक्षा के स्वर मे कह देते हैं। अजी, यह तो ससार का व्यवहार है, लगा ही रहता है। सदा कौन जीता रहता है, जो जन्मा है वह मरेगा ही। किन्तु जब हमारा कोई सम्बन्धी मरता है, तो हमें दुख होता है, उससे भी अधिक दुख तब होता है जब अपने घर का कोई भाई, बन्धु' पिता, चाचा या और निकटतम सम्बन्धी मरते हैं। और यदि किसी का युवा प्यारा पुत्र मर जाय, तब तो उसके दुःख का कहना ही क्या ? तब तो ज्ञान, ध्यान वेदान्त उपासना सब भूल कर आठ आठ आँसू रोने लगेगा। इसीसे यही सिद्ध हुआ दुख का कारण मृत्यु नहीं है। यदि मृत्यु से ही दुख होता, तो सभी को मरने पर दुख होना चाहिये था,किन्तु बात ऐसी नहीं, किसी को तो उसके मर जाने पर अत्यधिक प्रसन्नता होती है। दूसरे को अत्यधिक दुख होता है। यथार्थ में तो दुख का करण है मोह जनित स्नेह, ममता पूर्वक अत्यधिक आसक्ति। जिनकी किसी में असक्ति नहीं,उन्हे न किसी के मरने पर दुख होता है न पैदा होने पर सुख। वे तो सभी दशाओं में समान रहते हैं। किन्तु ऐसे समदर्शी ज्ञानी संसार में विरले ही होते हैं। नहीं तो जिनके साथ सदा हिलमिल कर प्रेम पूर्वक रहे हैं। जिनसे प्यार किया है, जिनका प्रेम पूर्वक आलिंगन चुम्बन किया है। जिन्हें आँखों की पुतली के समान प्रेम पूर्वक पाला है खिलाया पिलाया और सुलाया है उनके वियोग में जिन

न फटे उन्हे या तो वज्र हृदय का समझो या हृदयहीन ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! उन क्रूर चित्तास्त्रियों ने उस फूल से सुकुमार सुन्दर राजकुमार को निर्दयता पूर्वक हलाहल विष दे दिया।

बच्चा बडा ही सुन्दर था । ३-४ वर्ष का हो गया था । तोतली बोली मे कोकिल की तरह कूँजता रहता । कभी माँ के गले में लिपट जाता कभी पिता की गोदी मे खेलने लगता । उसकी बड़ी भोली भाली सूरत थी । वह जब हँसता, तो ऐसा लगता मानो मुख से मोती झर रहे हों । जब वह अपनी कारी कारी घुँघराली लटाओं को बखेर कर राजहंस की भाँति लडखडाता हुआ माता की उँगली पकड कर चलता तो माता के आनन्द का ठिकाना नहीं रहता । माँ बार बार उसके ऊपर तृण तोरती, उसकी बलैया लेती देवताओं की मनौता मनाती । राई नोन लेकर उसके ऊपर उतार कर अग्नि मे डालती । मिरचों को लेकर तवे पर जलाती । मेरे बच्चे को किसी की नजर न लग जाय । न जाने वह कितने जादू टोना करती । अपने हाथ से बच्चे को खिलाती धुलाती, बाल सम्हालती । भाँति भाँति के रंग विरंगे वस्त्राभूषण पहिना कर सजाती । बडी बडी आँखों मे मोटा मोटा काजल लगाती । माथे पर एक डिठौना लगा देती, फिर बार बार उसके मुख को देखती छाती मे लगाती, मुँह चूमती और फूली नहीं समाती । सजा बजाकर राजा की गोद में बिठा देती । राजा उसके स्पर्श से स्वर्गीय सुख का अनुभव करते, उसके मुख चुम्बन मे उन्हे अमृत से भी बढ़कर सुख मिलता । उसके साथ बालक बन जाते, भाँति भाँति की क्रीडा करते, कभी बच्चा गोद में खेलते खेलते सो जाता, तो उसे बड़ी सावधानी से माँ की गोद में दे देते । महारानी बच्चे को सुवर्ण के हिंडोले में लिटा कर लोरियाँ देती ।

इससे बड़ा सुख होता था उसके अचलों में अपने आप पुत्र स्नेह क कारण दूध भर आता था। बचा देर तक न उठना तो वह स्वतः बहने भी लगता था।

बच्चेके जब उठने का समय हो गया, तो माँ ने कई बार सोचा बचा आज अभी उठा नहीं। कोई बात नहीं, नींद आ गई है। सोने दो, सोना तो बच्चे के लिये परम हितकर है। दो घड़ी हुई तीन हुई चार हुई। अब तो माँ को संदेह होने लगा। बचा इतना तो कभी सोता नहीं था। पलङ्ग पर पड़े पड़े ही महारानी ने पुकारा—"धाय ! तू बच्चेके पास है या नहीं ?"

धाय ने कहा—"हाँ. महारानीजी ! मैं हूँ। कुमरजी अभी सो रहे हैं।"

उसने धीरे से कहा—"आज बहुत देर हो गई, अभी तक जगा नहीं, तू उठा तो ला गोदी मे यहीं मैं उसे पलंग पर अपने साथ लिटाऊँगी। आज क्या बात है। इतनी देर तक तो कभी सोता नहीं था ॥'

रानी की यह बात सुन कर धाय ने धीरे से मुख का वस्त्र उठाया। वस्त्र उठाते ही उसने जो देखा, उसे देखकर वह तो हकी बकी सी रह गई। बच्चे की सब नसे नीली हो गई हैं मुख से झाग निकल रहे हैं, आँखें पथरा गई हैं, वह प्राणशून्य हुआ निर्जीव पड़ा है। उसने बच्चे को धड़कते हुए हृदय से टटोला प्राणों की गति देखी, किन्तु उसके प्राण अब कहाँ ? वे तो परलोक प्रयाण कर चुके थे। उसे तो यमराज अपने पाश में बाँधकर यमपुरी ले गया था। अब बच्चा नहीं था केवल उसका निष्प्राण मृतक शरीर मात्र पालने पर पडा था। यह देख कर सहसा धाई हा ! मेरे लाल कहकर धडाम से पृथ्वी पर गिर पड़ी। धाय का रुदन और पतन का शब्द सुनकर रानी भी

सहसा अधीर हो उठी, उसके शंकित चित्त मे एक बड़े वेग का धक्का लगा। यंत्र की भाँति बिना संकल्प के ही वह सहसा पलंग से उठ पडी और एक झपट्टे मे ही दौडती हुई पुत्र के पालने के पास पहुँच गई। वहाँ उसने जो कुछ देखा, उसे देखकर तो उसके हृदय के टुकड़े टुकडे होने लगे। उसका हृदय फटने लगा। वह अपने को सम्हाल न सकी। शोक के कारण वह सज्ञाशून्य सी बन गई थी। उसे शरीर की सुधि नहीं रही, मूर्छित होकर वह धडाम से पृथ्वी पर गिर पडी।

उस समय उसके सिर का वस्त्र खिसक गया था, बाल खुल गये थे। बालों मे लगे मालती के पुष्प इधर उधर म्लान होकर गिर रहे थे, मानों वे भी उसके दुख मे दुखी होकर रो रहे हो। उसके अंग प्रत्यंग अस्त व्यस्त हो गये। वह कुररी की भाँति चिल्ला रही थी, वत्स हीन गो के समान डकरा रही थी। उसकी आँखों से अश्रुओं की दो निरन्तर धारायें बह रही थीं। वह छाती को पीटती जाती थी और हा! मेरे लाल हा! मेरे जीवनाधार कहकर मुक्त कंठ से रुदन कर रही थी।

उसके दुःख और करुणा भरे रुदन की गूँज सम्पूर्ण अन्तःपुर मे भर गई। दास दासी, रानी, प्रतिहार जिन्होंने भी सुना वे ही सब काम छोड़कर रानी के पास दौड़े आये। सभी पुत्रको मरा देखकर रानी के ही समान छाती पीट पीट कर रोते हुए दुखी होने लगे। रोने चिल्लाने लगे। अब वे सब रानियाँ भी जिन्होंने यह नीच कृत्य किया था वे भी भोली भाली अनजान की भाँति आकर पूछने लगीं—"क्या हुआ! क्या हुआ! हाय! अभी अभी तो खेल रहा था। हाय! हम सब लुट गईं। अनाथ हो गईं हमारा सर्वस्व चला गया। यह कहकर वे महारानी धृतद्युति से भी अधिक चिल्ला चिल्लाकर रोने लगीं। महाराज!

इन स्त्रियों की लीला भगवान् भी नहीं जान सकते; फिर मनु- की तो बात ही क्या है ?"

उस समय महाराज-चित्रकेतु राजसभा में बैठे हुए थे ।

दूसर राष्ट्र के विषय में सन्धि विग्रह की बात चल रही थी। सहसा अंतःपुर मे करुण क्रन्दन, रुदन की भीषण ध्वनि सुनकर वे सहम गये। इतने मे एक दासी दौड़ी दौड़ी अस्तव्यस्त भाव से पहुँची और रोती हुई बोली—"महाराज! कुमार तो हम सबको छोड़ गये।" इतना कह कर वह दासी मूर्छित होकर वहीं गिर पड़ी।

हैं! राजकुमार की मृत्यु हो गई, अरे. अभी तो मैं उसे देख कर आया था। राजा का तो सम्पूर्ण शरीर सुन्न पड़ गया। काटो तो एक बिन्दु रक्त :न मिले। सम्पूर्ण रक्त पानी हो गया। वे सहसा अंतःपुर की ओर दौड़े किन्तु चल न सके बीच मे ही ठोकर खाकर गिर पड़े। मन्त्रियो ने दौड़ कर राजा को पकड़ा। वे संज्ञा शून्य हो रहे थे। स्नेहानुबंध के कारण अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त शोक के कारण वे संज्ञा-शून्य से बन गये थे। चलना चाहते थे, किन्तु पैर काम नहीं देते थे। कुछ बोलना चाहते थे, किन्तु वाणी रुद्ध हो गई थी। वे तड़फड़ा रहे थे, बिलबिला रहे थे, वे अन्तःपुर मे जाने को उत्सुक थे, किन्तु चलने मे असमर्थ थे, वाणी रुद्ध हो जाने से किसी से यह भी नहीं सकते थे, मुझे कोई मेरे मृतक लाल के पास पहुँचा दो। मंत्रियो ने राजा की विवशता का अनुभव किया। कइयों ने मिल कर पकड़ा राजा मंत्रियों तथा ब्राह्मणों से घिरे लड़खड़ाते, ठोकर खाते, गिरते पडते सभी के कंधों का सहारा लेते, रोते चिल्लाते अधीरता प्रकट करते अन्तःपुर मे पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा बच्चा मरा पड़ा है। उसकी माँ समीप में ही बाल बखेरे कुररी पक्षी की भाँति चिल्ला रही है। अब तो राजा का रहा सहा धैर्य भी छूट गया। वह बच्चे के पैरो के पास कटे वृक्ष की भाँति गिर पड़े। ने उन्हें सम्हाला, ब्राह्मण उन्हें घेर कर बैठ गये। रानी

मूर्छित पडी विलनिला रहो थी। लाखो रानियाँ वहाँ अश्रु बहाती हुई झूठी समवेदना दिखा रही थीं। यद्यपि वे रानियाँ कृतद्युति के ही समान दुखी जान पडती थीं। उसी के समान रुदन कर रही थीं। किन्तु उनके रुदन मे और बडी रानी के रुदन में आकाश पाताल का अतर था। वह झूठा रुदन था इसका मर्मस्पर्शी हार्दिक दुःख जनित दुख था।

महाराज की आँखों के सम्मुख अँधेरा छा रहा था। उनका मुकुट गिर गया था, बाल बिखर गये थे, वस्त्राभूषण तितिर बितिर हो गये थे। अत्यन्त शोक के कारण गला भर रहा था। स्त्रियों के करुण क्रन्दन मे वहाँ के भवन रोते हुए प्रतीत होते थे। राजा रोना चाहते थ, किन्तु रो नहीं सकते वे चाहते थे मेरे आँसू निकलें, किन्तु बढे हुए शोक से अश्रु भी नहीं निकलते थे। वे पाले से दग्ध हुए वृक्ष के समान झुलसे प्रतीत होते थे।

रानी ने जब अपने सग सुख मे रहने वाले पति को इस दुःखावस्था मे देखा तब तो उसके शोक का वारापार न रहा। एक ओर मरा हुआ पुत्र पड़ा है, दूसरी ओर उसका सर्व समर्थ राज राजेश्वर पति पागलों की भाति बिना आसन के पृथ्वी पर लोट रहा है। शोक के कारण उसका अग प्रत्यग व्याकुल हो रहा है, तो इससे रानी को और भी अधिक कष्ट हुआ। वह पति की ऐसी दशा देखकर शोक सागर मे निमग्न हो गई। उस समय उसकी आँखों से जो अश्रु बह रहे थे। वे हरे रग के से प्रतीत होते थे। उसकी आँखों मे जो काजल लगा था, उससे मोती के समान शुभ्र अश्रु काले हो गये थे। वे कज्जल कालिमा मिश्रित अश्रु बिन्दु निकल निकल कर कुकुम मिश्रित चदन से चर्चित कुचों पर पड़ते थे। कालिमा और पीत के मिश्रण से जो हरित वर्ण के अश्रुकण बन जाते थे उनमे रानी के सम्पूर्ण वस्त्र

भीग गये थे। वह पगली की तरह सिर हिला रही थी। उसे आज लाज भी छोड़कर चली गई थी, मन्त्रियो और पुरोहितों के सामने भी वह बाल बखेरे मुँह खोले रुदन कर रही थी।

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! रानी का रुदन बड़ा ही हृदय-द्रावी था, उसे अभी वर्णन करने की मेरी सामर्थ्य नहीं है। तनिक विश्राम लेकर मैं उसके रोमाचकारी करुण-विलाप का वर्णन करूँगा।"

छप्पय

दासी कूँ लखि विकल, गईं तहँ भगि के रानी।
मृतकवत्स लखि मातु धेनु सम गिरि डकरानी॥
करुणा क्रन्दन सुन्यो सेविका सब घबराईं।
कपट वेदना प्रगट करत रानी सब आईं॥
समाचार भूपति सुन्यो, हृदय विदारक अति विकट।
पहुँचे अन्त पुर तुरत, गिरत-परत सुत शव निकट॥

रानी-कृतद्युति का सुत के निमित्त करुण-क्रंदन

(४७४)

नाहं तनूज ददृशे हतमङ्गला ते
मुग्धस्मितं मुदितवीक्षणमाननाब्जम्।
किं वा गतोऽस्यपुनरन्वयमन्यलोकम्
नीतोऽघृणेन न शृणोमि कला गिरस्ते ॥१

(श्रीभा० ६ स्क० १४ अ० ५८ श्लो०)

छप्पय

फटै कृतद्युति हियो रुदन भूपति को सुनि-सुनि।
ग्रस्त-व्यस्त तनु भयो भूमि पै लोटे पुनि-पुनि ॥
कज्जल कालिख मिले अश्रु-मोचन करि रोवे।
चन्दन-चर्चित पीन पयोधर सतत भिगोवे ॥
अहो विधाता निर्दयी, तोहि दया नहिँ नेक हूँ।
कहूँ मिलावे प्रेम तें, बिछुरावे दुख तें कहूँ ॥

हे भगवान तू गृहस्थियों को सब दुख देना, किन्तु पुत्रवियोग-जनित दुख किसी को मत देना। जिस पुत्र को प्राणों से भी

---

१ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! मृतक-पुत्रके सम्मुख विलाप करती हुई महारानी-कृतद्युति कह रही हैं—हे पुत्र! मैं बड़ी हतभागिनी हूँ जो तेरे मधुर मुस्कान-युक्त मुखकमल को प्रसन्न चितवन के सहित नहीं देखती। बेटा! क्या यथार्थ में तुम्हें दयाहीन-यमराज उस लोक में ले गया जहाँ से लौटकर कोई फिर आता नहीं? क्योंकि मैं तुम्हारी सुमधुर तोतली वाणी नहीं सुन रही हूँ।"

चढकर प्यार से पालते हैं, पल-पल पर जिसकी सुविधा का ध्यान माता-पिता रखते हैं, जो प्रेम का सजीव साकार स्वरूप होता है, जो अपनी ही आत्मा नवीन-वपु बनाकर अपनी गोद मे क्रीडा करती है, जिसे देखने मे सुख होता है, चुम्बन मे मधुरिमा होती है, स्पर्श मे आनन्दोद्रेक होता है। जिसे गोद में लेने से रोम-रोम खिल उठते हैं। जिसकी चंचलता, चपलता, बाल सुलभ-सरलता हृदय में नूतन स्फूर्ति का संचार करती है। जिसका देह से दिव्यगंध आती है, जिसके सिर सूँघने से सर्वोत्कृष्ट-सुगन्धि का अनुभव होता है। जो रोता हुआ भी सुन्दर लगता है और हँसता हुआ भी हृदय को हँसा देता है। वह पुत्र यदि गृहस्थी के सामने ही, माता पिता के देखते देखते मर जाय—परलोकवासी बन जाय तो उसके माता-पिता पर क्या बीतती होगी इसे माता पिता बिना बने कोई अनुभव कर ही नहीं सकता।

श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन्! जिसका प्राणों से भी प्यारा, आँखों का तारा, जीवन का सहारा इकलोता-पुत्र मर गया है वह रानी कृतद्युति, विधाता को धिक्कारती हुई अत्यन्त-करुणा के स्वर मे रोती हुई असम्बद्ध-प्रलाप करने लगी। उसने रोते-रोते हाथों को फटफटाते हुए कहा—अरे ओ निर्दयी विधाता! तुझे तनिक भी दया नहीं है। किसने तुझे सृष्टि का कर्ता बना दिया? किसने तुझे इतने प्रतिष्ठित-पद पर बिठा दिया! तुझे इतनी भी बुद्धि नहीं, वृद्ध माता-पिता के सामने अबोध-बालकों को बधिकों की तरह—हत्यारो की तरह पकड ले जाता। यदि तुझे मारना ही था तो पैदा क्यों किया? इस बच्चे को इतना सौन्दर्य—इतना लावण्य क्यों प्रदान किया! तुझे मारना था, तो मुझे मारता—मुझे अपने लोक को ले जाता। बूढों के

रहते बच्चों को मार देना; तेरी मूर्खता नहीं तो और क्या है ?

तू कह सकता है कि, संसार में ऐसा कोई क्रम नहीं कि पहले बूढ़े ही मरें, जब जिसका काल आ जाता है तब वही मर जाता है। यह तो सब प्रारब्ध के ऊपर निर्भर है ! यदि ऐसी ही बात है—कोई क्रम नहीं, कोई नियम नहीं, तो फिर तेरी आवश्यकता क्या है ? यह तो शत्रुता का काम है, कि नन्हे-नन्हे हँसते-खेलते बच्चों को उनके माता-पिताओं की गोद से छीन ले जाता उन्हें वियोग-दुख में तड़फाते रहना।

यदि जीवों के मरने-जीने का कोई क्रम नहीं; तो यह स्नेह की फँसरी तैंने पैदा क्यों की ? प्राणियों के हृदयों में यह प्रेम का बीज, स्नेह का अंकुर क्यों पैदा कर दिया ? हाय, इससे तो अच्छा यही था—हृदय के स्थान में तू एक पत्थर रख देता। न कोई काहू से प्रेम करता, न उसे वियोग-दुख सहना पड़ता।

तू कह सकता है कि यदि प्राणियों में परस्पर मे प्रेम न होता, पति पत्नी को न चाहता, पुत्र माता-पिता को प्यार न करता, मातृहृदय में संतान के प्रति ममत्व न होता तो इस सृष्टि की वृद्धि कैसे होती ? यह सर्ग, अभिवृद्धि को कैसे प्राप्त होता ? "अच्छा तैंने सृष्टि बढ़ाने को ही स्नेह की—प्रेम-पास की रचना की है; तो छोटे-छोटे अबोध बालकों को—जिनसे आगे चलके सृष्टि-वृद्धि हो सकती है, उन्हें-तू क्यों अकाल में ही मार डालता है ?" अरे, अपने आप तो विष का पेड़ लगाकर भी नहीं काटते ? निर्दयी, तू स्नेहलता को पैदा करके उसका मूलोच्छेदन कर रहा है—उसे जड़-मूल से काट रहा है। कैसी है तेरी यह क्रूरता ! कैसी तेरी यह निष्ठुरता और नीचता है !!

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वह प्रेम मे पगली हुई, विरह में कातर बनी—रानी अपने आप ही इस प्रकार असबद्ध-प्रलाप करती रहीं। फिर उसने उठकर झट से पालने में से अपने मृतक-शिशु के शव को गोद मे उठा लिया, उसकी गर्दन लटक रही थी, मुँह से निकले नीले फैन सूख से गये थे, आँखें-पथराई हुई थीं। अपने फूल से प्यारे-दुलारे बच्चे की ऐसी दशा देख-कर उसे गोदी में लिये हुए ही रानी फिर से गिर पड़ी। बार-बार उसके मुखको चूमती और कहती—"बेटा, मेरा मुन्ना! मुझ अनाथिनी-दीना को छोड़कर तुम कहाँ जा रहे हो? भैया! तुम जहाँ भी जाओ, अपनी अभागिनी-माँ को साथ लेकर जाओ। पहले तो मेरे तनिक न बोलने पर तू रो पड़ता था। अब मैं कितनी देर से तुम्हें पुकार रही हूँ, तू बोलता क्यों नहीं? मेरे किस व्यवहार से तू अप्रसन्न हो गया है! अच्छा, मैंने कुछ अपराध किया हो तो मुझसे मत बोलो, किन्तु देख, य तेरे पिता शोक-सतप्त हुए भूमि मे लोट रहे हैं, इनकी ओर तो देख दे! इनकी गोदी मे जाकर क्रीड़ा कर।

बेटा! तू तो मुझे और अपने पिता को बहुत प्यार करता था। मैं जहाँ भी जाती तू मेरे ही साथ जाता था। आज मुझ अभागिनी को छोड़कर तू इस क्रूरपाश हस्तवाले यमराज के साथ क्यों जा रहा है? इस लोक को रुलानेवाले मृत्यु के साथ मत जा बेटा! देख, हमने तो तुझसे बड़ी-बड़ी आशायें लगा रखी थी। हम सोचते थे—तू हमें 'पु' नामक नरक से पार लगा देगा। हम, अपुत्रियों के लिये दुष्पार घोर-नरक को तेरा सहारा लेकर सुगमता से पार कर जाना चाहते थे। तू तो हमे बीच में ही बिलखता हुआ छोड़ गया। मैं तेरी जननी हूँ! य महाराज तेरे जनक हैं, हमने कभी कष्ट सहा नहीं। तेरे कारण

हम आज अत्यंत-कष्ट में पड़े हुए हैं, हमें कष्ट में पड़े हुए देखकर भी तुझे दया नहीं आती। अब तो बेटा! बहुत सो लिए अब उठो—उठो। हमारे शोक-संतप्त हृदय को अपनी तोतली-शीतल-वाणी सुनाकर शान्त करो।

अच्छा—अच्छा तू आज हम दोनों से ही असन्तुष्ट है, तो देख जिनके साथ तू नित्य भाँति-भाँति के खेल खेला करता था, वे तेरे ये साथी-सखा अन्य बालक तेरे साथ खेलने को उत्सुक खड़े हैं! उनके साथ प्रेमपूर्वक क्रीड़ा कर—अपने खिलौनों से इनके साथ खेल। उठ भैया! क्यों आज निष्ठुर बन गया है। बहुत हो गया। सोने की भी सीमा होती है—तुझे बहुत भूख लग रही होगी। तेरे भोजन का समय बीत गया। अब तक तो तू दो-बार खा लेता था, दो-बार मेरे, स्तनों का दूध पी लेता था। उठ मेरे लाल! मेरे दूध को पी ले। मुझे अधजली छोड़कर मत जा। तुझे जाना ही है—तो मुझे भी अपने साथ ले चल।

श्रीशुकजी कहते हैं राजन्! वह शोक संतप्ता राजमहिषी पगली हो गई थी। अत्यंत-शोक के कारण उसकी बुद्धि नष्ट-सी हो गई थी। उसे जड़-चैतन्य का विवेक नहीं रहा था। वह मृत-पुत्र को बार-बार जीवित की भाँति पुकार रही थी। जब बार-बार पुकारने पर भी बच्चे की ओर से कोई उत्तर न मिला, तब तो वह और भी अधिक व्याकुल हुई और रोती हुई निराशा के स्वर में कहने लगी—"मालूम होता है बेटा! तू अब उस लोक में चला गया जहाँ से लौटकर इस शरीर से प्राणी नहीं आते! हाय, तभी तो तेरा सुमधुर मनोहर-मुख म्लान पड़ गया है। तभी तो तेरी प्यारी-प्यारी तोतली-वाणी सुनाई नहीं देती। प्रतीत होता है, यह निर्दयी-यमराज तुझे पकड़ कर बहुत दूर तक ले गया है; जहाँ तू मेरी वाणी नहीं सुन पाता। तभी

तू मेरी बातो का कुछ उत्तर नहीं दे रहा है।"

श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन् ! रानी, वारम्बार करुण-स्वर मे विलाप कर रही थी। वह उठती और पुनः पछाड खाकर गिर पडती। असम्वद्ध बातें बकने लगती। उसे इस प्रकार विलाप करते देखकर राजा भी ढाह-मारकर मुक्त-कण्ठ से रुदन करने लगे। राजा के रोने पर सभी मन्त्री, पुरोहित, पुरवासी, नगर-वासी और वे क्रूरहृदया-रानियाँ भी रोने लगीं। सबके रुदन से वह अन्तःपुर भर गया। वहाँ का वायुमण्डल-क्षुब्ध हो गया। दशों-दिशाओं मे शोक छा गया।

छप्पय

हाय ! कहा जिह भयो कुँवर ने नातो तारयो।
छलकर यमपुर गयो भाग्य मेरो पुनि फोरयो॥
बेटा ! मोकूँ छोरि अकेलो मति तू जावे।
दूर देश महँ दूध तोइ को तहाँ पिआवे॥
बेटा ! सोवत आज तो, देरी तोकूँ है गई।
यों अतिसय सुतशोक महँ, रानी बहुव्याकुल भई॥

शोक संतप्त-नृप के निकट अङ्गिरा और नारदजी

(४२५)

एवं कश्मलमापन्नं नष्टसंज्ञमनायकम् ।
ज्ञात्वाङ्गिरा नाम मुनिराजगाम सनारदः ॥*
(श्री भा० ६ स्क० १४ अ० ६१ श्लो०)

छप्पय

रानी-राजा शोक-सिन्धु महँ डूबें पुनि-पुनि ।
आये देवै धीर अङ्गिरा अरु नारद मुनि ॥
देखे बेसुधि-भूप उठें नहिँ विप्र उठावें ।
कहि-कहि सुन्दर युक्ति उभय-मुनि यों समुझावें ॥
जीव काल-क्रम तें मिलैं, समय पाय बिछुरें तुरत ।
रचि माया मायेश पुनि, बालकवत् क्रीड़ा करत ॥

संसार में परहित निरत—परोपकार-व्रती संत न हों—तो यह सम्पूर्ण जगत् रौरव-नरक बन जाय। इस जगत् में आधि, व्याधि, चिन्ता, शोक, भय, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष, क्लेश आदि विपत्तियों

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार राजा को शोक-संतप्त तथा संज्ञाशून्य हुआ देखकर और यह जानकर कि इसका कोई नायक-शिक्षादाता नहीं है, नारदजी को साथ लिये अङ्गिरा-मुनि वहाँ आ पहुँचे।"

के अतिरिक्त है ही क्या? जिह्वा और उपस्थके क्षणभर का सुख है; वह भी परिणाम में दुखद ही है। अधिक जिह्वा-लोलुपता करने से अरुचि, मंदाग्नि,सग्रहणी आदि रोग हो जाते हैं। अधिक काम सेवन से प्रमेह, दौर्बल्य, निर्वीर्यता,क्षय आदि नाना-रोग उत्पन्न होते हैं। जगत् में जिधर देखो उधर ही दुख है। इस दुख से त्राण करने वाले संत ही हैं। शोक-सागर में डूबते हुए को हाथ पकड कर उबारने वाले परोपकारी-साधु ही हैं। साधु ही अशांत को शान्त बनाते हैं, रोते को हँसाते हैं, दुखी को सुखी बनाते हैं, मृतक को जीवन-दान देते हैं और बीच-मँझधार में—ससार सागर में डूबनेवाले को उस पार लगाते हैं! जिन पर साधु की कृपा हो जाय उसे पार ही समझो।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! सर्वत्र विचरने वाले, संकल्प से जहाँ चाहें—तहाँ पहुँच जाने वाले, सबकी घट-घट की जानने वाले भगवान अङ्गिरा-मुनि ने जब ज्ञानदृष्टि से राजा चित्रकेतु को इस प्रकार दुखित देखा, तो उन्हें दया आ गई। उनके पास नारदजी बैठे थे। अपने भाई-नारदजी से अङ्गिरा-मुनि बोले—'ऋषिवर! चलो, हम तुम्हें एक मोहग्रस्त जीव के दर्शन करा लावें।"

नारदजी बोले—"महाराज! मोहग्रस्त तो सभी संसारी मनुष्य हैं।"

इस पर अङ्गिरा-मुनि बोले—"नहीं, नारदजी! हम आप को ऐसे पुरुष के समीप ले चलेंगे जो वास्तव में तो मोक्ष का अधिकारी है, किन्तु वासना-निवृत्ति के लिये जिसे हमने ही जान-बूझकर मोह में फाँसा है। जैसे काँटे को निकालते समय अधिक कष्ट होता है,परंतु निकल जाने पर प्राणी स्वस्थ हो जाता है।

प्रकार उसका मोह दूर कराने को हमने उसे संसार की स्थिति का दिग्दर्शन कराया है।"

नारदजी तो ऐसी बातों के लिये उधार खाये ही बैठे रहते हैं। उन्होंने कहा—"अच्छी बात है महाराज! चलिये—अपने को तो घूमने का शाप ही है।"

नारदजी की सम्मति पाकर अङ्गिरा-मुनि उन्हें लिए हुए राजा-चित्रकेतु के अन्तःपुर में आये। सम्पूर्ण महल रुदन की चीत्कारों से गुंजायमान हो रहा था। राजा अपने मृतक-पुत्र के समीप संज्ञाहीन हुए पड़े थे! उनके बाल खुले हुए थे, वस्त्राभूषण अस्त-व्यस्त हो रहे थे, अङ्गों में धूलि लगी थी, वे पृथ्वी पर ही पड़े थे। हा पुत्र! हा वत्स! कह कर वे मुक्तकण्ठ से रो रहे थे। उनके समीप ही मृतक-पुत्र को गोद में लिये हुए रानी विलाप कर रही थी। बार-बार उसे छातीसे चिपटाती—चिल्लाती थीं। राजा-रानी को घेरे हजारों—लाखों स्त्री-पुरुष खड़े थे। मंत्री, पुरोहित, राजा को घेरे बैठे थे। सबकी आँखों से अविरल-अश्रु प्रवाहित हो रहे थे। सभी राजा के दुख में दुखी हो रहे थे। किसी को कुछ कहने का साहस नहीं हो रहा था। इतने में ही ये दोनों सर्वज्ञ-ज्ञानी मुनि पहुँच गये। मंत्री और पुरोहित ने साश्रु-नयनों से उनका यथोचित समयानुकूल स्वागत-सत्कार किया। दोनों मुनि मंत्री के दिये हुये आसन पर राजा के समीप ही—सुखपूर्वक बैठ गये। राजा बार-बार बच्चे को देखते और छटपटाते चिल्लाते—"हाय मेरे लाल! हा मेरे जीवनाधार!! तू हमें बीच में छोड़कर कहाँ चला गया? तू तो मुझे प्राणों से भी अधिक प्यार करता था।"

राजा को इस प्रकार शोकग्रस्त और मृतक के समान संज्ञाहीन देखकर—पागलों के समान प्रलाप करते देखकर भगवान

अंगिरा उनसे बोले—राजन्! आप जिस जीव के लिये इतना शोक कर रहे हैं; वह बालक आपका इस जन्म में या पहिले किसी जन्म में कौन था और आगामी-जन्मों में कौन होगा? तुम्हारा वह कौन है और तुम उसके क्या लगते हो?"

मुनि की ऐसी बात सुनकर राजा आँखें फाड़-फाड़ कर मुनि की ओर देख रहे थे, किन्तु उनको तो अपनी देह की भी सुधि-बुधि नहीं थी। मुनि की बात सुनकर भी उन्होंने नहीं सुना।

राजा को कुछ भी उत्तर न देते देखकर पुरोहित ने कहा—भगवन्! पूर्व जन्मों के संस्कारों से ही इस जन्म में जीवों से सम्बन्ध होता है। यह कुमार पूर्वजन्म में महाराज का कोई घनिष्ठ सम्बन्धी रहा होगा इसीलिये इस जन्म में इनका पुत्र हुआ। पिता के लिये पुत्र प्राणोंसे भी अधिक प्यारा होता है, अतः ये इस बच्चे के पिता हैं,और यह इनका पुत्र है। अकाल में इसकी मृत्यु हो गई महाराज के यही एक पुत्र था; अतएव इतना अधिक दुख होना स्वाभाविक ही है।

इस पर अंगिरा-मुनि बोले—"विप्रवर! राजा का यह भ्रम है कि यह मेरा पुत्र है,अब तक जीता था और अब मर गया है। ब्रह्मन्! यह जगत्-प्रवाह अनादि है। इसमें न कोई किसी का पिता है न पुत्र। जैसे गंगा जी के प्रवाह में बहते हुए बालुका के कण एक स्थान पर आज एकत्रित हो जाते हैं; फिर लहर आई—कुछ कण आगे चले गये, कुछ जम गये, कुछ वायु में उड़ गये। कभी हरिद्वार की बालू बहते-बहते प्रयाग आ गई और कभी प्रयाग की बहते-बहते गंगासागर पहुँच गई। यह नित्य-प्रवाह अविच्छिन्न—गति से बह रहा

यह स्वाभाविक है। इसके लिये राजा का शोक करना व्यर्थ है। काल-क्रम से जीव कभी इकट्ठे हो जाते हैं, समय आने पर वे बिछुड़ भी जाते है—अलग-अलग हो जाते हैं। इसमें न कोई किसी का शत्रु है न मित्र। सब मुँह-देखे का मोह है।"

इस पर पुरोहित ने कहा—"महाराज! बिना संस्कार के संयोग-वियोग होता नहीं। जिनसे अपना संस्कार वश सम्बन्ध हो गया है उनके मिलने पर हर्ष और बिछुड़ने पर शोक होता ही है।"

अपनी बात पर बल देते हुये अङ्गिरा मुनि बोले—"शोक होता है तो अज्ञान से होता है,व्यर्थ होता है। होना नहीं चाहिये! संस्कार ही तो प्रवाह में कारण है। देखिये, प्रत्येक पूर्णिमा को गंगास्नान का मेला होता है। सहस्रों, लाखों नर-नारी अपनी-अपनी पोटलियाँ बाँध-बाँधकर—साथ में लोटा ले-लेकर गंगाजी की ओर जाते हैं। मार्ग में साथी भी मिल जाते हैं, कुछ से घनिष्टता बढ़ जाती है। वे साथ-साथ चलते हैं, साथ-साथ ठहरते हैं। छोटे-बच्चे; स्त्रियों से माता जी कहने लगते हैं, सयाने-पुरुषों से भाई कहते हैं, बूढ़ों से बाबा कहते हैं, युवक-पुरुष बच्चों से कहते हैं—"भैया! अपनी भाभी से अमुक-वस्तु तो ले आ। वह भी जाकर कहता है—"भाभी! भाईजी ने अमुक-वस्तु माँगी है! वह भी घूँघट की ओट में से पुचकार कहती है—लल्ला, ले जाओ। इसे अपने भैयाजी को दे देना। अच्छा देखो! यह लड्डू तुम रख लेना।"

क्षणभर में माता, भाई, भौजाई,बाबा सब कुछ बन गये। अब दूसरे कोई यात्री इस यात्री-समूह के साथ कुछ अन्याय करते हैं, समूहकी किसी स्त्री के ऊपर व्यंग करते हैं या उनके स्थान के समीप सोते हैं तो सब मिलकर लड़ते हैं—हमारे स्थान पर तुम क्यों बैठ गये?

हमारे आदमियों से तुमने यह बात क्यों कह दी ? क्षणभरमें अपने होगये ! पूर्णिमाको गंगा स्नान किया, मेला तितिर-बितिर हुआ। कौन किसका भाई और कौन किसकी भौजाई ? तुम अपने घर— हम अपने घर। फिर उनकी याद भी नहीं आती। प्याऊ पर बहुतसे लोग एकत्रित हो जाते हैं—पानी पिया; सब चले जाते हैं। गंगा जी के घाट पर पार होने को बहुत से पुरुष जुट जाते हैं, पार होते हैं—अपने-अपने गन्तव्य स्थान को चले जाते हैं। इसमें न कोई किसी का शत्रु है न मित्र, पिता है न पुत्र, मिथ्या-कल्पना है ! अज्ञानजनित-मोह है। माया का चक्कर है। ज्ञानी-पुरुष को भूल कर भी इस माया-जालमें न पड़ना चाहिये। उसे नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अविनाशी-श्रीहरि ही की ओर सदा-सर्वदा ध्यान रखना चाहिये। वे न मरते हैं, न जन्म लेते हैं। उनमें क्षय नहीं, वृद्धि नहीं, ह्रास नहीं, विकास नहीं। वे तीनों-कालों में समभाव से अवस्थित हैं।"

पुरोहित ने कहा—"तब महाराज ! जन्य-जनक का सम्बन्ध तो व्यर्थ ही हो गया ?"

उपेक्षा के स्वर में मुनि ने कहा—"अजी विप्रवर ! कौन जन्य—कौन जनक ? ये सब मिथ्या कल्पनायें हैं। एक बीज से अनेकों बीज उत्पन्न हो जाते हैं, उन अनेकों बीजों में भी पृथक्-पृथक अनेकों को उत्पन्न करने की शक्ति होती है। बहुत बीजों में से तो बीज उत्पन्न होते हैं, बहुतों से नहीं भी होते। यह तो गुण-प्रवाह है। इसमें कोई जन्य-जनक नहीं। इसी प्रकार भगवान की माया से प्रेरित होकर प्राणियों से अन्य प्राणी उत्पन्न होते हैं, उनसे फिर और होते तथा नष्ट हो जाते हैं। यह तो गोरख-धंधा लगा ही रहता है। आत्मा का इन बातों से कोई सम्बन्ध नहीं।"

इतना कहकर मुनि राजा को ही सम्बोधित करके कहने

लगे—"राजन्! तुम इतने बुद्धिमान् होकर किसके लिये इतना शोक कर रहे हो? अजी, हम-तुम तथा और भी जो ये इतने चराचर-प्राणी वर्तमान हैं—वे न पहिले कभी थे,न अब हैं और न आगे होंगे! यह सब तो मिथ्या-कल्पना है, गन्धर्वपुर की रचना है। सीपी में रजत का भान है, टेढ़ी-मेढ़ी रस्सीमें सर्प की मिथ्या-प्रतीति है। श्रीहरि ही सत्य हैं, वे ही त्रिकाल-अबाधित हैं। तुम सत्य की शरण लो, मिथ्या कल्पनाओं में मत भटको।"

इस पर पुरोहित बोले—"भगवन्! जब यह सब कुछ है ही नहीं, तो प्राणियों का जीना मरना, सृष्टि का उत्पन्न होना, पालन होना तथा प्रलय हो जाना यह सब क्या है?"

हँसते हुए अङ्गिरा मुनि बोले—"विप्रवर! यह सब उन सर्वभूतपति-अजन्मा-सच्चिदानन्द-परमेश्वर की क्रीड़ा मात्र है। यद्यपि उन्हे कोई इच्छा नहीं है! वे सर्वदा निरीह और निस्पृह हैं, फिर भी बालवत्-खेल-खेल में ही इन खिलौने रूप परतन्त्र-प्राणियों से अन्य-प्राणियों की सृष्टि-सी कराते हैं, उन्हीं से पालन कराते हैं और फिर काल-रूप से संहार भी करा लेते हैं। वास्तव में इनका कोई प्रयोजन नहीं! विनोद के अतिरिक्त इनमें कुछ भी सत्यता नहीं। परस्पर में जैसे शतरज की गोटें—दूसरी गोटों को हराती हैं, जिताती हैं, उन जड-गोटों में हराने-जिताने की शक्ति कहाँ है? जब तक चैतन्य-जीव बुद्धि द्वारा उन्हें उठाकर न रखे इस प्रकार एक देह का दूसरे देह से संयोग कराकर—रज वीर्य मिला कर—तीसरे देह को उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार से यह चक्र चलता रहता है। इन में उत्पन्न कराने वाला ही नित्य है—सत्य है। जो उत्पन्न होते हैं वे तो मिथ्या हैं?"

पुरोहितने कहा—"भगवन्! यह बात भली प्रकार समझ में आई नहीं।"

अङ्गिरा-मुनि बोले—"देखो! घडा, सकोरा, दीपक, ये सब मृत्तिका से ही तो बनते हैं। चाहे कितनी भी आकृतियाँ पृथक्-पृथक् हो जायँ, उनके कितने भी भिन्न-भिन्न नाम रख दिये जायँ, सब मिथ्या हैं, सब नाशवान् हैं, एकमात्र मृत्तिका ही सत्य है। वही तीनो-कालो में रहती है। घडे बनने के पूर्व भी मिट्टी थी, जब वह मिट्टी घडे के आकार मे परिणित हो गई तो उसका मृत्तिकापन चला नहीं गया, वह ज्योंका त्या मृत्तिका बनी रही! घडे का आकार नष्ट हो गया फिर भी मृत्तिका ही बनी-बनाई है। घडे के पूर्व भी मिट्टी थी, अत मे भी मिट्टी ही हो गई। जिस समय नाम रूप की उपाधि से मृत्तिका के स्थान मे घट नाम से प्रसिद्ध हो गई उस समय म उसमे स मृत्तिकापन हटा नहीं क्योंकि वह नित्य है। नाम रूप मिथ्या है। जाति और व्यक्ति पृथक् पृथक् नहीं है। केवल कल्पना से हमने इनमे पृथकत्व स्थापित कर लिया है। जैसे घटत्वादि जाति तथा घट आदि व्यक्ति का विभाग, व्यवहार मे बनावटी है उसी प्रकार यह देह और देही का विभाग अविद्या कल्पित है—किन्तु है अनादि। विवेक के द्वारा ही इस अविद्याजनित कल्पना का नाश किया जा सकता है।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज चित्रकेतु ने जब अंगिरा मुनि के ऐसे गूढ ज्ञानमय वचन सुने, तब तो उन्हें कुछ-कुछ चेत हुआ। राजा विवेकी थे, सत्संगी थे। महत्पुरुषों की उन्होने चिरकाल तक श्रद्धा से सेवा की थी, यह तो एक निमित्त-विशेष से उन्हे मोह हो गया था। जब मुनि ने अकाट्य-युक्तियों द्वारा इस दृश्य-प्रपच को,अज्ञान जनित मोह का कारण बताया—तब तो राजा को कुछ-कुछ ज्ञान हुआ। उन्हे जो असह्य-मानसिक वेदना हो रही थी, वह कुछ कम हुई। अब तक वे भूमि

संज्ञाहीन होकर लेट रहे थे, अब वे उठकर बैठ गये। उनका मुख-मलिन हो रहा था, नेत्रों से निरन्तर झर-झर आँसू बह रहे थे। राजा ने अपने हाथों की हथेलियों से अपने लाल-लाल नेत्रों को रगड़कर बहते हुए आँसुओं को पोंछा। सामने बैठे हुए दोनों-मुनियों को प्रणाम किया और उनको सम्बोधित करते हुए शोक के कारण रुद्ध हुई वाणी से उनसे कुछ पूछने के लिये उद्यत हुए।"

छप्पय

हैं निरीह अखिलेश अजन्मा भूमा श्रीहरि।
शिशु सम खेलें सदा योगमाया आश्रय करि॥
रचैं जीव तें जीव जीव तें पुनि मरवावैं।
कबहूँ जग करि जगें कबहुँ लय करि सो जावैं॥
नहिँ त्रिकाल-बाधित अजर, अमर नित्य प्रभु जगत्पति।
तजि तिन पद भ्रमवश करहिँ, अज्ञ जगत महँ मोह रति॥

—:&:—

महामुनि-अङ्गिरा द्वारा राजा को ज्ञानोपदेश

(४२६)

सर्वेऽपि शूरसेनेमे शोकमोहभयार्तिदाः ।
गन्धर्वनगरप्रख्याः स्वप्नमायामनोरथाः ॥
दृश्यमाना विनार्थेन न दृश्यन्ते मनोभवाः ।
कर्मभिर्ध्यायतो नाना कर्माणि मनसोऽभवन् ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० १५ अ० २३-२४ श्लो०)

छप्पय

मुनि सचेत नृप भये मुनिन सन बोले बानी ।
को हैं दोनों आप परम तेजस्वी ज्ञानी ॥
कहैं अङ्गिरा—"भूप ! अङ्गिरा मोकूँ जानों ।
ब्रह्माजी के पुत्र इन्हें नारद मुनि मानों ॥
ज्ञान देन आये उभय, आप शोक-सन्तप्त हैं ।
सोमे नाहिं मोह भ्रम, जे नर भगवद्भक्त हैं ॥"

जो—जिनका सहज स्वभाव है यदि वही किसी विशेष कारण-वश विपरीत-सा हो जाय, तो कुछ काल में वह स्वयं

---

* महामुनि अङ्गिरा, महाराज चित्रकेतु को उपदेश करते हुए कह रहे हैं—"हे शूरसेनाधिप राजन् ! जितनी भी ये राज्यादि-सम्पत्तियाँ हैं, स्वप्न के द्वारा, माया के द्वारा और मन के द्वारा कल्पित-पदार्थों के समान असत्य हैं एवं ये सभी शोक, मोह और भय को देनेवाले हैं।

ही प्रकृति मे अवस्थित हो जाता है। जल का सहज-स्वभाव है—शीतल। यदि वह अग्नि के अथवा ज्येष्ठ वैशाख के सूर्य की गरमी से उष्ण हो जाय तो कुछ कालमे पुनः शीतल हो जायगा। जो सदा साधु-सेवा और सत्संग मे सलग्न रहते हैं, यदि वे किसी घोर-विपत्ति मे पडकर अपने स्वभाव के विरुद्ध आचरण करे तो बोध कराने पर वे फिर सम्हल सकते हैं। साधु-सेवा, साधु-सग, साधु की शिक्षा कभी व्यर्थ नहीं जाती! अंतर इतना है, कि पात्र-भेद से कहीं तो वह तुरत फलवती हो जाती है, कहीं कालान्तर मे अपना परिणाम दिखाती है। कुछ बीज तो ऐसे है जो पृथिवी मे पडते ही कुछ दिनो मे फल-फूल देने लगते है और कुछ ऐसे भी बीज है कि बहुत समय तक पृथिवी में ज्यो के त्यो पडे रहते है, समय आने पर—अनुकुल परिस्थिति के होने पर उनमे अकुर उत्पन्न होता है। राजा-चित्रकेतु पुत्र-शोक मे इतने सन्तप्त हुए कि अपने साधु-स्वभाव को भूल ही गये। जब उन्हे भगवान अङ्गिरा ने बोध कराया तब वे कुछ-कुछ प्रकृतिस्थ हुए।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अङ्गिरा-मुनि के तत्व-ज्ञान से परिपूर्ण पुनीत-वचनों को सुनकर महाराज-चित्रकेतु उनसे पूछने लगे—"महाभाग! आप दोनो कौन हैं? कहाँ से पधारे हैं? इस समय आपने इस दीन-हीन, मति-मलीन, पामर-

गन्धर्व-नगरी के समान ही ये मिथ्या हैं। न होनेपर भी दीखते हैं। दृश्य-जगत् के सभी पदार्थों की इस मन ने ही कल्पना कर ली है, क्योंकि जैसे ये दीखते हैं—वह इनका वास्तविक रूप नहीं है। इसलिये कभी दीखते हैं और कभी नहीं दीखते। जो लोग कर्म-वासना के द्वारा विषयों का चिन्तन करते हैं, उन्हीं के मन में नाना-प्रकार के कर्म उत्पन्न होते हैं।"

प्राणी पर ऐसी अहैतुकी-कृपा कैसे की ? आपकी गूढ़ ज्ञानमय-बातों को सुनकर तो ऐसा प्रतीत होता है कि आप कोई महान्-ज्ञानी, परम भगवद्भक्त, राग-द्वेप, मोह-ममता से सर्वथा रहित परम-तत्वज्ञानी महान से भी महान ऋषि हैं। आप दोनों ने अवधूतों का सा वेप बना रखा हैं, वास्तव में आप कोई सिद्ध हैं !"

इस पर हँसकर अङ्गिरा मुनि ने कहा—"तुमने हममें ऋषियों के कौन से चिन्ह देखे ?"

राजा ने कहा—"प्रभो ! चिन्ह न भी हों तो भी आप साधारण भिक्षुक नहीं। आपने अपना यथार्थ स्वरूप छिपा रखा है ! बहुत से भगवान के एकनिष्ठ-भगवद्भक्त, ज्ञानी-ब्राह्मण अपने स्वरूप को छिपाकर छद्मवेप से इस अवनि पर पर्यटन करते रहते हैं। कभी वे अवधूत का वेप बना लेते हैं, कभी अपने को पागलसिडी प्रदर्शित करते हैं, कभी उन्मत्त या पिशाच के समान आकृति बना लेते हैं। उनका काम यही होता है कि, दयावश मुझ जैसे मूढ़मति-पुरुषों को अपनी अहैतुकी-कृपा द्वारा संसार से पार पहुँचाते रहते हैं। बहुत से नित्य-सिद्धों के तो मैंने नाम सुने हैं, जो सृष्टि के अंत तक जीवित रहकर लोकों में स्वच्छन्दता पूर्वक विचरण करते रहते हैं। उनमें सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, सनातन, नारद, अंगिरा, भृगु, देवल, असित, भगवान-वेदव्यास, मार्कण्डेय, गौतम, वशिष्ठ, भगवान परशुराम, कपिल, श्रीशुक, दुर्वासा, याज्ञवल्क्य, जातू, कर्ण्य, आरुणि, लोमश, च्यवन, दत्तात्रेय, अत्रिमुनि, पतंजलि, वेदशिरा, बोधायन मुनि, पञ्चशिरा,हिरण्यनाभ, कौसल्या, श्रुतदेव, और ऋतध्वज इतनों के तो मैं नाम जानता हूँ। इनके अतिरिक्त भी बहुत से सिद्ध-महापुरुष हैं जो बिना कर्म

के स्वेच्छानुसार शरीर धारण करके इधर-उधर घूमा करते हैं। मुझे तो प्रतीत होता है आप इन्हीं में से कोई हैं। अन्य विषयों मे आसक्त हुए मुझ मूढमति को तत्त्वज्ञान का उपदेश करने आप कृपावश पधारे हैं। अज्ञानान्धकार मे पडे हुए मुझ पशु को ज्ञानालोक दिखाने आये हैं, संसार-सागर में मोह-रूपी मगर के मुख मे जाते हुए मुझ-अभागे को हाथ पकड़कर निकालने के लिये ही बिना-बुलाये आप यहाँ आये हैं। मुझे आप अपना परिचय दे और इस विपरीत-सागर से उबारें—मैं आप दोनों ही की शरण हूँ।"

राजा की विनीत वाणी सुनकर भगवान अंगिरा-मुनि बोले—"अरे राजन्! तुम मुझे भूल गये क्या?"

राजा ने कहा—"भगवन्, इस समय पुत्र-शोक के कारण मेरी बुद्धि भ्रष्ट-सी हो गई है। अतः हे प्रभो! आप बुरा न मानें, मेरी धृष्टता को क्षमा करें। मुझे कुछ स्मरण तो हो रहा है!"

अंगिरा-मुनि ने हँसकर कहा—"राजन्! स्मरण करो मैं वही अंगिरा हूँ—जिससे तुमने पुत्र-प्रदान करने के निमित्त अत्यधिक आग्रह किया था। तुम्हारे अत्यंत-आग्रह को देखकर मैंने ही तुम्हें यह पुत्र प्रदान किया था।"

यह सुनकर राजा संभ्रम के साथ बोल उठे—"हाँ-हाँ गुरु-देव! अब जान गया। मैं मूढ तो आपको ससारी-मोह में फँस-कर भूल ही गया था, किन्तु आप मुझे नहीं भूले—यही मेरे लिये अत्यंत कल्याणकारी बात है। संसारी-जीवों का भूल जाना तो स्वाभाविक है, किन्तु आप कैसे भूल सकते हैं! हम जैसे संसारी माया-मोह-रूप पंक में फँसे प्राणियों की आप जैसे संत ही तो गति हैं। ये दूसरे महापुरुष कौन हैं?"

अंगिरा-मुनि बोले—"इनको भी भूल गये ? ये मेरे भाई—ब्रह्मपुत्र देवर्षि-भगवान नारद हैं।"

इतना सुनते ही राजा उठकर दोनों-मुनि के चरणों मेंगिर-

कर फूट-फूटकर रोते हुए कहने लगे—"हे अकारण-कृपा करने वाले मुनियो ! मुझ-मूढ़मति को इस शोक-सागर से निकालिये।"

राजा के ऐसे विनीत-वचन सुनकर अत्यंत ही स्नेह के साथ महामुनि-अंगिरा बोले—"राजन् ! ऐसी अधीरता आपके अनुरूप नहीं है। देखिये—कैसी भी विपत्ति क्यों न पड़ जाय, भगवद्भक्त कभी विचलित नहीं होते, वे दुख में अधीर नहीं हुआ करते। आप पुत्र-शोक-मोह रूप दुस्तर-अज्ञानांधकार में निमग्न थे, इसीलिये उससे उद्धार करने के निमित्त हम-दोनों यहाँ आये है। आप हमारी बातों को श्रद्धापूर्वक-श्रवण करें। आप भगवद्भक्त और प्रभु के प्यारे हैं ! आपको इस प्रकार रोना—दुख करना, अपने आपको भूल जाना उचित नहीं। आप परमार्थ-तत्व के अधिकारी हैं, उत्तम-मुमुक्षु हैं। मैं आपको ज्ञान-प्रदान करने ही आया हूँ।"

यह सुनकर राजा ने कहा—"प्रभो ! उसी समय आपने मुझे ज्ञानोपदेश क्यों नहीं कर दिया ? तभी ज्ञान हो जाता तो ये दुख के दिवस क्यों देखने पड़ते ! इस विपत्ति के सागर में इस प्रकार क्यों निमग्न होना पड़ता ?"

इसपर महामुनि-अंगिरा बोले—"राजन् ! मैं आया तो था उस समय आपको ज्ञानोपदेश ही करने, किन्तु उस समय मैंने देखा आपकी-सम्पूर्ण चित्त की वृत्ति पुत्र-प्राप्ति के निमित्त लगी हुई है। उस समय सुत की ही तुम्हारी उत्कट-अभिलाषा समझकर मैंने तुम्हें पुत्र ही दिया। उस समय मैं ज्ञानोपदेश देता तो वह व्यर्थ होता, आप उसे ग्रहण करने में असमर्थ होते। इसलिये मैं बिना ज्ञानोपदेश किये ही चला गया। अब आप पुत्र-जनित दुख का अनुभव कर चुके, अब आप समझ गये कि; ये पुत्र, दारा आदि परिणाम में दुख ही देने वाले हैं !

अब आप ज्ञानोपदेश ग्रहण कर करने के अधिी हुए हैं, इसलिए नारदजी को लिये हुए मैं तुम्हारे समीप आया हूँ। अब तो आपने देख लिया न कि पुत्रवालों को कितने कितने कष्ट सहने पड़ते हैं। ये पुत्रादि दूर से देखने में ही सुखकर प्रतीत होते हैं—जैसे दूर से पर्वत अच्छा दीखता है, उसके ऊपर चलो—उसकी कटका कीर्ण झाडियों में प्रवेश करो, तब उसकी दुर्गमता का पता चलेगा। देखो, पुत्र के जन्म से मृत्यु पर्यन्त कष्ट ही कष्ट है। पैदा होते समय माता को महान कष्ट। पालन करने में प्रतिपल-कष्ट, बड़ा हुआ तो पढ़ाने-लिखाने में—विवाह करने में कष्ट। अयोग्य निकल गया तो उसकी बुरी बातों से सदा हृदय जलता रहता है, सुयोग्य हुआ तो सदा उसके शरीर की चिन्ता बनी रहती है। साराश यह कि—निरंतर उससे कष्ट ही कष्ट है। यदि अकाल में मृत्यु हो गई तब जो कष्ट होता है, उसका अनुभव तो आप कर ही रहे हैं।

जो बातें पुत्र के सम्बन्ध में हैं, वे ही अपने शरीर तथा शरीर से सम्बन्ध रखने वाली स्त्री, धन-सम्पत्ति, शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्शवाले भोग्य-पदार्थों के विषयमें तथा राज्यवैभव, पृथिवी, राज्य, सेना, कोष, नौकर चाकर, मंत्री-आमात्य तथा बंधु बान्धव, सुहृद्गण और स्नेहियों के सम्बन्ध में भी समझ लेनी चाहिये। ये सभी चलायमान हैं, अशाश्वत और नाशवान् हैं।"

राजा ने कहा—"भगवन्! ये जो हमें नृत्य-गीत करनेवाले गायक, सुन्दर-सुन्दर रूपवाले पदार्थ लड्डू—पेड़ा बरफी, जलेबी, खुरमा, तुरती, खीर, मालपुए आदि खाद्य पदार्थ, दुग्ध, दही, घी, रस, आदि पेय पदार्थ, चटनी आदि लेह्य पदार्थ, आम आदि चोस्य-वस्तुएँ, भाँति भाँति के पुष्प, इत्र, सुगंधित तैल आदि गन्धवाले पदार्थ, गद्दा, तकिया, कामिनी, सुखद-वस्त्र आदि

सुखकर पदार्थ प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, फिर इनमें सुखानुभूति क्यों होती है ?"

यह सुनकर अङ्गिरा-मुनि बोले—"राजन् ! यही तो भ्रम है। ये जो पदार्थ जिन्हें आप प्रत्यक्ष बता रहे हैं, वास्तव में कुछ हैं ही नहीं। इनका अस्तित्व तक नहीं।"

राजा ने कहा—महाराज ! यह कैसे हो सकता है, जिन्हें प्रत्यक्ष देखते हैं, नित्य व्यवहार करते हैं, इनके व्यवहार से सुख-दुख का अनुभव भी होता है, फिर आप इनका अस्तित्व ही क्यों उड़ाये देते हैं। प्रत्यक्ष तो सबसे बड़ा प्रमाण है।"

अंगिरा-मुनि ने कहा—"राजन् ! आप प्रत्यक्ष किसे कह रहे हैं ! जिन चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा आप प्रत्यक्ष करते हैं, वे भी तो असत् हैं। रही देखने की बात सो गन्धर्व-नगर भी तो दिखाई देता है, क्या वह सत्य है ? इन्द्रधनुष भी तो रंग-बिरंगा प्रत्यक्ष दीखता है ! क्या कोई ऐसा रंग-बिरंगा-धनुष आकाश में लटक रहा है ? आकाश भी तो नीला-नीला प्रत्यक्ष दीखता है, क्या नील-रंग मे रंगा कोई बड़ा-तवा गगन मे लगा हुआ है ? रही प्रत्यक्ष-अनुभव की बात ! सो स्वप्न मे तो वस्तुएँ प्रत्यक्ष होती ही हैं। स्वप्नमे हाथी-घोड़े प्रत्यक्ष दीखते हैं—वे हमे मिल जायँ तो सुख होता है, हमें कोई कष्ट दे—सिर काटे तो दुख होता है, विषय-सुख सम्बन्धी कोई वस्तु मिलती है तो उसके उपभोग में प्रत्यक्ष-सुख का अनुभव होता है। मनसे हम बहुत से मनोरथ करते हैं—तन्मय होकर बड़ी-बड़ी सुखद-कल्पनायें करते हैं—ऐसा करेंगे, वैसा करेंगे, यह सुख भोगेंगे, वह आनन्द लूटेंगे। जिस समय मन के रथ पर चढ़कर ये सुखद-कल्पनायें करते हैं; सुख होता है यदि दुखद-कल्पना करते है दुख होता है। गन्धर्व-नगर की वस्तुएँ स्वप्न तथा मनोरथ की वस्तुएँ न होने पर भी उनका

स्वप्नादि में, अस्तित्व विहीन अनित्य वस्तुओं से संयोग होने पर सुख-दुख का अनुभव तो होता ही है। ये सब मनोकल्पित-मिथ्या-पदार्थ हैं। ये नाश वान् और परिवर्तनशील हैं, क्योंकि बिना वास्तविक-स्वरूप के ही ये सब दिखाइ दे रहे हैं। इसीलिये आज कुछ दीखते हैं और कल कुछ।"

इस पर राजा ने पूछा—"भगवन्! ये सुख-दुख सभी को होते हैं—सभी के सचित-कर्मों को बढाते हैं?"

इसपर अगिरा-मुनि ने कहा—"राजन्! यह बात नहीं। ज्ञानी-पुरुष का द्वैतभाव नष्ट हो जाता है, वह तो—जो भी करता है, वासना-रहित होकर करता है। वह तो सोचता है, इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के ही अर्थ विषयोंमे प्रवृत्त हो रही हैं,मेरा इनसे क्या सम्बन्ध? इसीलिए वह किसी कर्म मे लिप्त नहीं होता। उसके सचित-क्रियामाण सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं! किन्तु जो कर्म-वासना में प्रेरित होकर विषयों का चिंतन करते हैं उन्ही के मन से नाना प्रकार के कर्म उत्पन्न होते हैं,अतः इन असद्-पदार्थों मे से सद्बुद्धि का त्याग कर देना चाहिये। इन अनित्य पदार्थों को भूलकर भी नित्य न समझना चाहिए, परिणाम में दुखद सिद्ध होने वाले विषयों से कभी सुख बुद्धि न करनी चाहिए।"

इस पर आश्चर्य में पड़कर महाराज चित्रकेतु ने पूछा—"प्रभो! जब जीवात्मा सुख दुख से रहित है, तो इसे किस कारण से सुखी-दुखी होना पडता है?"

इस पर अगिरा-मुनि बोले—"राजन! यह जो मन सहित ग्यारह-इन्द्रियों वाला पचभूतात्मक सूक्ष्म-देह है, यही जीवात्मा को विविध-प्रकार के क्लेश और सतापों को भुगाता है। इसीलिए तुम स्वस्थ होकर शात-चित्त से विचार करो—इन ससारिक-

पदार्थों मे से आसक्ति निकाल दो। जैसे स्वप्न के पदार्थ मिथ्या हैं; वैसे ही ये भी सब दीखने वाले पदार्थ मिथ्या हैं। रात्रि का स्वप्न तो प्रातःकाल मिथ्या प्रतीत होने लगता है, किन्तु यह जाग्रत का स्वप्न विना ज्ञान हुए सत्य-सा ही सदा दिखाई देता है। लोग इस स्वप्नमें पडे-पडे चौरासी लाख योनियों मे घूमते रहते हैं। इसलिये अब तुम विखरी हुई वृत्तियो का निरोध करो। यह शरीर—मैं हूँ, शरीर से सम्बन्ध रखने वाले स्त्री, पुत्र, परिवार, राज्य, धन, गृह ये सब मेरे हैं—इस बुद्धि को त्याग दो। आत्मा के यथार्थ-स्वरूप का ज्ञान, वैराग्यपूर्वक विचार करके इस द्वैत-भ्रम मे जो नित्य बुद्धि हो गई है इसको छोड़ दो। इस प्रकार तुम आत्मचिंतन करोगे, तो समस्त शोक-मोह को भूलकर परम शांति-लाभ करोगे।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार भगवान-अंगिरा-मुनि राजा चित्रकेतु को आत्म और अनात्म-पदार्थ का भेद बताकर चुप हो गए। उनका सकेत पाकर अब भगवान नारदजी राजा से कुछ कहने को प्रस्तुत हुए।"

छप्पय

को कलत्र, को मित्र, पुत्र को काको भाई।
जगके सब सम्बन्ध अन्त महँ अति दुखदाई॥
सम्पति सब ऐश्वर्य, विषय-सुख, राज, कोष, धन।
पृथवी, सेना, भृत्य, सुहृद् आमात्य बन्धुगन॥
स्वप्न समान अनित्य ये, शोक मोह भय देहिँ दुख।
तजो द्वैत भ्रम-जाल कूँ, तब पाओ नृप नित्य-सुख॥

श्रीनारदजी द्वारा राजा को शिक्षा-दीक्षा

(४२७)

एतां मन्त्रोपनिषद प्रतीच्छ प्रयतो मम।
यां धारयन्सप्तरात्राद्द्रष्टा सङ्कर्षणम्-प्रभुम् ॥१

(श्री भा० ६ स्क० १५ अ० २७ श्लो०)

छप्पय

कह्यो अङ्गिरा ज्ञान, फरि बोले नारद मुनि।
देहुँ मन्त्र उपनिषद् ताहि नृप सावधान सुनि॥
जगके सब सम्बन्ध सग तन केइ जावैं।
नाता—पत्नी बने पिता पुनि पुत्र कहावैं॥
यों कहि मृतक कुमार कूँ, मुनि जीवित सो कर दयो।
दुखित-भूप तें जीव ने, आत्मज्ञान अतिप्रिय कह्यो॥

जीव तो कर्माधीन होकर ससार मे भटकता है। उस भटकने में सयोगवश बहुतों से सम्बन्ध हो जाता है, कालान्तर में उनको भूल जाता है। उसे तो कर्मों का फल भोगना है, वासनाओं के पीछे-पीछे चलना है। एक सेठ है, धन के लिये

१ श्रीनारदजी राजा चित्रकेतु से कह रहे हैं—"राजन्! मैं तुम्हें इस मन्त्रोपनिषद् का उपदेश देता हूँ, तुम इसे सयत चित्त होकर ग्रहण करो। इसे यदि तुम सात रात्रि धारण करोगे तो तुम साक्षात्-सङ्कर्षण-प्रभु के दर्शन पाओगे।"

वह नाना-देशों मे जाता है; नाना-लोगों से सम्पर्क रखता है, किसी से क्रय करता है; किसी को विक्रय करता है, किसी के साथ मार्ग में चलता है; किसी के घर ठहरता है और किसी से काम कराता है। कार्य कराते समय तो कैसा स्नेह प्रदर्शित करता है, कैसो घुल-घुलकर मीठी-मीठी बातें करता है! किन्तु जैसे बनिया कभी किसी का मित्र नहीं होता, उसकी मित्रता स्वार्थ की होती है, वैसे ही इस जीवरूप-बनिए की भी किसी से मित्रता नहीं। जहाँ यह शरीर छूटा कि सब सम्बन्ध छूटे। अजी, दूसरे जन्म की बातें जाने दो—जो वर्षों साथ पढ़े हैं, एक साथ खाये-खेले हैं—बड़ी घनिष्ठता रही है वे जब दस या बीस वर्ष के पश्चात् लंब-तड़ंगे दाढ़ी-मूँछवाले होकर आते हैं तो पहिचाने नहीं जाते! फिर दूसरे जन्म में जहाँ शरीर सर्वथा दूसरा हो जाता है; कैसे पहिचान सकते हैं। जहाँ शरीर छूटा सब नाते भी छूट जाते हैं। पिता, पुत्र बन सकता है—स्त्री; माता बन जाती है, बहिन, पत्नी हो जाती है! मनुष्य से पशु बन जाते हैं। कभी देवता हो जाते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि संसारी-सम्बन्ध स्थाई नहीं। आत्मा से इनका कोई भी सम्बन्ध नहीं, शरीर के साथ इनका सम्बन्ध है। जहाँ शरीर छूटा—"गोविन्दाय नमोनमः" हो गई!!

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब भगवान अङ्गिरा-मुनि उपदेश देकर चुप हो गए, तो राजा उनके मुख की ओर देखता का देखता ही रह गया। उसने कहा—"तब भगवन्! मैं क्या करूँ?"

इस पर अंगिरा-मुनि ने कहा—"राजन्! गुरु के बिना उद्धार नहीं। तुम्हारे सौभाग्य से सर्व-विद्याओं के आचार्य—ब्रह्मपुत्र भगवान-नारदजी स्वयं ही यहाँ उपस्थित हैं! तुम

इनके शरणापन्न हो जाओ—इनसे मंत्र-दीक्षा ले लो। मंत्र-दीक्षा देकर फिर ये तुम्हे शुभ-शिक्षा देंगे। इनकी शिक्षा को शिरोधार्य करके तुम उसी के अनुसार आचरण करोगे तो तुम्हें शान्ति की प्राप्ति होगी, तुम मुक्त हो जाओगे।"

भगवान-अंगिरा की आज्ञा मानकर महाराज-चित्रकेतु नारदजी के शरणापन्न हुए और उनसे मंत्र-दीक्षा देने की प्रार्थना की। नारदजी कनफूंका साधारण-गुरु तो थे ही नहीं कि जो भी सामने आया—कान फूंक दिए! चेले के कान में कह दिया—"कानाबाती कुर्रु, तू चेला मैं गुर्रु" वे तो शिष्य की परीक्षा करके—उसके अधिकार को समझकर—जैसे को तैसा उपदेश देनेवाले गुरु थे। उन्होंने सोचा—"इसे यथार्थ-वैराग्य तो है नहीं। अत्यन्त-शोक होने के कारण वैराग्य है—सो भी तमोगुण के कारण। अतः इसे महान तमोगुणी देव की उपासना बतानी चाहिये। मुक्ति या तो पराकाष्ठा के घोर-सत्व मे होती है या पराकाष्ठा के घोर-तम मे। पराकष्ठा के सतोगुण में तो सत्व-मूर्ति भगवान श्रीलक्ष्मीनारायण की उपासना करके असंख्यों शान्त-स्वभाव के भगवद्भक्त इस संसार के कर्म-बन्धनों से मुक्त हो चुके हैं और पराकाष्ठाके घोर-तम में मधु, कैटभ, रावण, हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष आदि बड़े-बड़े बली असुर राक्षस मुक्त हुए हैं! इसलिये इसे भगवान की घोर तमोमयी संकर्षण भगवान् की उपासना बतानी चाहिये। वे इसे भक्ति भी देंगे और मुक्ति भी प्रदान कर देंगे।" यह सब सोच-समझकर भगवान नारद राजा से बोले—"देखो राजन्! मैं तुम्हें संकर्षण-भगवान सम्बन्धी मंत्रोपनिषद् का उपदेश देता हूँ। इसे धारण करके; बिना सोये यदि तुम सात दिनों तक इसका निरंतर-जप करते रहोगे तो तुम्हें अतिशीघ्र—एक सप्ताह मे ही

भगवान-संकर्षण के दर्शन हो जायँगे।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! इस मंत्रोपनिषद् का फल क्या है?"

नारदजी ने गंभीर होकर कहा—"महाराज! इसका फल अमोघ है, यह मेरे द्वारा दिये जाने पर कभी व्यर्थ न होगी! इससे तुम्हें परमानन्द की प्राप्ति हो जायगी।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! किसी को इससे परमानन्द की प्राप्ति हुई भी है?"

इसपर दृढ़ताके स्वरसे देवर्षि-भगवान नारद बोले—"हे राजेन्द्र! पूर्वकालमें उन संकर्षण-भगवान के चरण-कमलों का आश्रय ग्रहण करके;तमोगुण के मूर्ति भगवान-शंकर तथा अन्य भी बड़े-बड़े योगी-सिद्ध आदि इस भेद-भ्रम को त्यागकर शीघ्र ही उनकी साम्यातिशयहीन-महामहिमा को प्राप्त हो चुके हैं!! इसीलिये इस मंत्रोपनिषद् का मैं तुम्हें उपदेश कर रहा हूँ—तुम भी इसके प्रभाव से समस्त शोक, मोह-जनित कर्मबन्धनों को त्यागकर परमपद को प्रेमपूर्वक प्राप्त हो जाओगे। तुम इस अज्ञान-जनित द्वैतभ्रम को त्यागकर सदा के लिये सुख-स्वरूप श्रीहरि में ही प्रतिष्ठित हो जाओगे।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार पहिले मन्त्र की महिमा और उसका प्रभाव बताकर नारदजी ने राजा को संकर्षणी-मन्त्रोपनिषद् का उपदेश देने का आश्वासन दिया एवं प्रत्यक्ष-जीव को बुलाकर भ्रम निवारक—शिक्षा दी।"

इसपर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! राजा के लिये भगवान-नारदने किस मन्त्रोपनिषद्‌की दीक्षा दी—उसे हमें भी सुनाइये।"

इसपर सूतजी बोले—"भगवन! मन्त्र का विषय बड़ा रहस्यमय है, अधिकारी-अनधिकारी सबके सामने कहा नहीं

जाता। रहस्य-वस्तु को इस ढंग से कहा जाता है कि; केवल संस्कारी-अधिकारी ही समझ सकें, अनधिकारियों की बुद्धि में बैठे ही नहीं! वे उसे गप्प-शप्प समझकर छोड़ ही दें। इस चालू कथा-प्रसंग में मैं उसे कहना नहीं चाहता। जब पृथक्मन्त्र-उपासना प्रकरण का प्रसंग होगा तो यथास्थान-समयानुसार इसका वर्णन किया जायगा। आगे फिर जैसी आपकी आज्ञा?"

इस पर शौनकजी ने कहा—"नहीं सूतजी! आप जैसे उचित समझें यही ठीक है। अच्छा; दीक्षा की बात तो रहस्यमय है, नारदजी ने राजा को शिक्षा क्या दी—उसे तो सुनाइये।

इस पर सूतजी बोले—"भगवन्! नारदजी ने उसी प्रकार अत्यन्त करके जीव से राजा को शिक्षा दिलाई, जिस प्रकार भगवान ने शोकातुर-अर्जुन को अभिमन्यु से शिक्षा दिलाई थी।

इसपर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान ने अर्जुन को कैसे शिक्षा दिलाई थी—पहिले इस प्रसंग को हमें सुनाइये, फिर नारदोक्त-उपदेश का वर्णन कीजिये। जिससे समझने में सरलता और सुगमता हो।"

यह सुनकर सूतजी बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"भगवन्! आप सब कथा के बड़े प्रेमी और रसिक हैं। आप कथा की सब पद्धति को जानते हैं। कौन-सी बात किस प्रकार कहने पर सरल और हृदयग्राही बन सकती है; इसका आपको अत्यधिक अनुभव है। अच्छी बात है—पहिले मैं आपको उसी प्रसंगको सुनाता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! अर्जुन को अपना अभिमन्यु सबसे अधिक प्यारा था। वह श्रीकृष्ण की भगिनी-सु उत्पन्न हुआ था। बड़ा ही सुन्दर, सुशील, मातृ-पितृ-भ

अर्जुन का वह प्रतिरूप ही था। सुन्दरता में, गुणों मे, शील-सदाचार मे तथा अस्त्र-शस्त्र विद्या मे वह अर्जुन से भी कुछ अशों मे बढा-चढा था। अर्जुन का तो वह वाहिरी-प्राण ही था। उसे जब वे देखते तभी उनका हृदय खिल उठता। यद्यपि अब वह युवा हो गया था, उसका विवाह भी हो चुका था फिर भी अर्जुन उसे अत्यंत-प्यार से बालकोंकी भाँति गोदीमें बिठाकर खूब चूमते पुचकारते। वह भी सकोच और लज्जासे सिर नीचा किये हुए सकोची-शिशु के समान चुपचाप पिता की गोद मे बैठा रहता। उस समय कोई उसे देखता तो समझ भी नहीं सकता था कि यह त्रैलोक्य-विजयी शूरवीर है। जैसा वह धर्मराज का आदर करता था वैसा ही उनके सभी भाइयों का आदर करता था। पाँचों-पांडवों में जो कोई भी उससे जो कार्य करने को कहता उसे वह विना उत्तर दिये—तुरन्त करता। सभी का उस पर समान स्नेह था, किन्तु अर्जुन की तो वह आत्मा ही था।

महाभारत के युद्ध में शत्रुओं ने उसे अन्याय से रण के नियम के विरुद्ध—घेरकर मार डाला। इससे पाँचों पांडवों को ही नहीं—समस्त सेना को महान दुख हुआ। अर्जुन की दशा तो अत्यत शोचनीय हो गई। उसने अपना धनुप उतारकर रख दिया, तूणीरों को शरीर से पृथक् कर दिया। श्रीकृष्ण के सम्मुख घुटने टेक दिये और नेत्रों से शोकाश्रु बहाते हुए कहने लगा—"प्रभो! बस हो गया—अब मैं युद्ध न करूँगा। अब युद्ध करूँ भी तो किसके लिये। पुत्र को मरवाकर उसके रक्त से रजित-राज्य को लेने की मेरी इच्छा नहीं है!!"

अर्जुन के वचनों में दृढ़ता थी, यह युद्धारम्भ मे की हुई शंका के समान नहीं थी! जिसे भगवान ने गीता का ज्ञान देकर शांत कर दिया था। यह निश्चय तो अटल था भगवान ने

भाँति-भाँति से उसे समझाया, अनेक दृष्टांत दिये, मृत्यु को अनिवार्य बताया, कर्मों की गहनगति समझायी, प्रारब्ध की ध्रुवता पर बल दिया, सब कुछ किया, पूरी शक्ति लगाकर समझाना चाहा, किन्तु अर्जुन अपने निश्चय से टस से मस नहीं हुए। उन्होंने युद्ध करना स्वीकार नहीं किया।"

तब सर्वान्तर्यामी भगवान् बोले—"अच्छी बात है, तू चाहता क्या है ? किसी भी प्रकार युद्ध करेगा।"

अर्जुन ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"हाँ, यदि अभिमन्यु मुझे मिल जाय, तो मैं युद्ध कर सकता हूँ। युद्ध ही क्या, आप जो भी आज्ञा करेंगे वही करूँगा।"

तब भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, चलो मैं तुम्हें अभिमन्यु से मिलाये देता हूँ, अब उसे लाना न लाना तुम्हारे अधिकार की बात है।"

चौंककर अर्जुन ने कहा—"हाँ, भगवन्! एक बार आप मुझे उससे मिला भर दें। फिर उसे लाना मनाना तो मेरे ऊपर रहा। फिर आपको कुछ भी करना न होगा। आप भले ही उससे एक शब्द भी न कहें उसे मुझे दिखा भर दें। साक्षात् भेंट करा दें।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, चलो।" यह कहकर भगवान् ने अपना दिव्य रथ तैयार किया। अर्जुन को उसमें विठाया। आज रथ पृथिवी पर नहीं चलता था वायुवेग से भी कई गुना शीघ्र वह उड़ रहा था मनके समान वह जा रहा था। कुछ ही क्षणों में वह सात समुद्र सात द्वीप आदि को लाँघता हुआ लोकालोक पर्वत के भी उस पार पहुँचा। वहाँ न वह पृथिवी थी न प्रकाश। एक दिव्य सुवर्णमयी घोर अन्धकार से आवृत

भूमि थी। भगवान् के चक्र-सुदर्शन ने उस तम को मार भगाया। वहाँ अर्जुन ने देखा एक बहुत बड़ा चक्र बड़े वेग से घूम रहा है। उस चक्र के आस-पास बहुत से सुन्दर-सुन्दर बालक जैसे खेल-खेल में दौड़ा करते हैं वैसे दौड़ रहे हैं। भगवान् ने कहा—"अर्जुन! इन बालकों में से तू अपने पुत्र अभिमन्यु को पहिचान ले।" यह कहकर भगवान् उस घूमते हुए चक्र के समीप बैठ गये।

अर्जुन ने देखा, उस चक्र के चारों ओर घूमने वाले बच्चे एक से एक सुन्दर हैं, वे सभी चंचल, हँसमुख और वस्त्राभूषणों से सुसजित हैं। कोई किसी की ओर देखता नहीं। अपनी ही धुनि में वे दौड़े जा रहे हैं, वे न तो दौड़ने से थकते हैं न हाँपते हैं। अर्जुन उन सबको बड़े ध्यान से देखते रहे। कुछ काल में उन्होंने क्या देखा कि अभिमन्यु भी उनमें सजा-बजा हँसता हुआ आ रहा है। किन्तु उसने अर्जुन को देखा भी, फिर भी बिना बोले सर्र से निकल गया। अर्जुन दौड़े किन्तु उस बच्चे को कैसे पा सकता था।"

भगवान् ने कहा—"भाई, देख लिया तुमने पुत्र का प्रेम ?"

अर्जुन ने अपनी बात पर बल देते हुए कहा—'भगवन्! उसने मुझे भली-भाँति देखा नहीं। देख लेता तो अवश्य खड़ा हो जाता।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, वह तो घूम-फिरकर फिर आवेगा। अब के सही।"

कुछ काल में अभिमन्यु फिर आया। अबके तो अर्जुन

सन्नद्ध थे। दौडकर उन्होंने अभिमन्यु को पकड ही तो लिया और बडे प्यार से बोले—"बेटा !"

अभिमन्यु ने प्रणाम की तो कौन कहे अर्जुन को देखा तक नहीं। बलपूर्वक अपना वस्त्र छुडाकर भाग गया।"

भगवान् ने कहा—"और भी कुछ शङ्का रह गई क्या ?"

अर्जुन का मुख फक पड गया। भगवान् के सम्मुख उसे बडी लज्जा आ रही थी। लजाते हुए वह बोला—"भगवन् ! एक बार और देख लेने दीजिये।"

भगवान् ने कहा—'नहीं, एक बार क्यों दश बार देखो। उसे इसी के चक्कर काटने हैं।"

कुछ काल पश्चात् अभिमन्यु फिर दीखा। अबके अर्जुन ने उसे कसकर पकड लिया और रोते हुए बोले—'अरे, बेटा ? तू ऐसा निष्ठुर क्यों बन गया है। पहिले तो तू मुझसे बडा प्यार करता था। मेरा कितना आदर करता था। अब मेरी ओर देखता भी नहीं। ऐसा निष्ठुर क्यो हो गया है मेरे लाल ! मैं तेरे बिना जीऊँगा नहीं। तू ही मेरे जीवन का सहारा है, मुझ भटकते हुए अंधे की तू ही लकडी है। तू अब इस खेल को छोड दे और मेरे साथ चल। देख तेरी माता अत्यन्त दुखी है, उसने कुछ खाया भी नहीं। तेरे ताऊ, चाचा, मामा, नाना सभी कुशल हैं, एक तेरे इन कारे मामा को छोडकर।

यह सुनकर अभिमन्यु ने अर्जुन को घुडक कर कहा—चल हट ! आया बडा बाप बनने वाला। तुझे पता है, कै बार तू मेरा बेटा बन चुका है। कै बार मैं तेरा बाप बन चुका हूँ। अरे भैया, यह तो गुण प्रवाह है इसमें कौन किसका बाप कौन किसका बेटा ! जब तक शरीर है तब तक सम्बन्ध है जब तक

गोल साँचे में ढला है तब तक रुपया है। गलाकर छल्ला बना दे कोई रुपया न कहेगा। कड़े, छड़े, बिछुआ बना लो उसी नाम का हो जायगा। इस संसार चक्र में तो ऐसे ही क्षणिक सम्बन्ध है मेरे खेल में विघ्न क्यों डालता है ? भाग जा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कहकर अभिमन्यु शीघ्रता से अपना शरीर छुड़ाकर भाग गया। अर्जुन का भंग हुआ और आकर फिर से युद्ध करने लगा। सो, मुनि इसी प्रकार नारदजी ने भी महाराज चित्रकेतु के मरे हुए के जीवात्मा को अपनी योग शक्ति से प्रत्यक्ष बुलाया। ल जीवित के समान उठकर बैठ गया। तब तो सबको सुनाते नारदजी उससे कहने लगे—"हे जीवात्मन्! देखो, ये तुम पिता हैं, ये तुम्हारी स्नेहमयी माता हैं। ये तुम्हारी मौसियाँ ये तुम्हारे सब स्वजन हैं। बन्धु बान्धव हैं। तुम्हारे लिये अत्यन्त शोकाकुल हो रहे हैं। सभी तुम्हारे वियोग में अत्य दुखी हैं। सभी रो रहे हैं, चिल्ला रहे हैं। भैया, तुम इन ऊपर दया करो। अपने शरीर में पुनः प्रवेश करके शेष आयु इन्हें सुखी करो। ये महाराज चित्रकेतु अब वृद्ध भी हो चले हैं ये अति शीघ्र तुम्हें राज्य सिंहासन सौंप देंगे। पृथिवी का छत्र सम्राट् बना देंगे। तुम्हारे ऊपर छत्र लग जायगा। चँव ढुलने लगेंगे। तुम सबके ऊपर शासन करना। सब तुम्हा आज्ञा में रहेंगे। इससे तुम्हारे माता-पिता को भी आन्तरिक सु होगा। ये तुम्हारे आश्रय में रहने वाले मन्त्री पुरोहित भृत्य स आनन्दित हो जायँगे। इस पर तुम पिता के दिये हुए भोगों भोगो और इन सबको प्रमुदित करो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! नारदजी की ऐसी बात सुन कर वह जीवात्मा ठहाका मारकर बड़े जोरों से खिलखिलाकर हँस पड़ा। और हँसते-हँसते सबको सुनाकर नारदजी का चरणों से कुछ कहने को उद्यत हुआ।"

छप्पय

नारद बोले—जीव ! पिता माता ये तेरे।
शोकाकुल अति भये पकरि पग रोवें मेरे॥
जीवित ह्वै के राज्य विषय सब भोगो सुख तें।
अति ई दोनों विकल छुडाओ इन कूँ दुख तें॥
सुनि हँसि बोल्यो जीव वह, काके को पितु मात हैं।
सब मुँह देखे के स्वजन, सुहृद बन्धु सुत तात हैं॥

मृत पुत्र के जीवात्मा द्वारा शिक्षा

[४२८]

यथा वस्तूनि पण्यानि हेमादीनि ततस्ततः ।
पर्यटन्ति नरेष्वेवं जीवो योनिषु कर्तृषु ॥*
(श्री भा० ६ स्क० १६ अ० ६ श्लो

छप्पय

जीव नित्य अति सूक्ष्म प्रकाशक स्वयं निरंजन ।
माया के गुण रोपि करे योनिनि मनरंजन ॥
मायिक गुण सम्बन्ध भयो दीखे मदमातो ।
जब तक रहे शरीर माँहिं तब तक ई नातो ॥
अगनित योनिन महँ भ्रमे, काकूँ निज पर कहिगने ।
कबहू नर, पशु, देव बनि, पिता, पुत्र, भ्राता बने ॥

जिनसे हम प्यार करते हैं और उनसे स्वयं भी प्यार करने
आशा रखते हैं,यदि वे हमारे प्रेमको ठुकरा दें, वे हमारी सर्व
उपेक्षा कर दें, तो प्रायः ऐसे समय वैराग्य हो जाता है । प्रा
इसलिये कहा कि उन्हीं को वैराग्य होता है, जिनके अन्दर कु

---

* नारदजी द्वारा बुलाये जाने पर राजा के मृतपुत्र का जीवात्मा क
रहा है—"देखिये, जैसे—सोना, चाँदी, अन्नादि क्रयविक्रय की वस्
एक दूसरे के पास, दूसरे से तीसरे के पास घूमती रहती हैं, उसी प्रक
कर्मवश जीव भी भिन्न-भिन्न योनियों में घूमता रहता है ।"

आध्यात्मिक संस्कार रहते हैं । जो माया मोह मे अत्यत ग्रसित हैं, उन्हे बार बार तिरस्कृत और अपमानित होने पर भी वैराग्य नहीं होता । उनकी असद् मे सद् बुद्धि वनी ही रहती है। यह जाव माया मोह मे ऐसा ग्रसित हो गया है, कि स्वय अपने प्रयत्न द्वारा इसका छूटना अत्यत ही कठिन है । श्रीहरि हा कृपा कर सत रूप मे स्वय ही आकर दयावश मार्ग बता दे, तब तो इस ससार चक्र से यह प्राणी छूट सकता है। नहीं तो वडा कठिन यह काल चक्र है ।

श्री शुकदेवजी कहते है—"राजन्! जब नारदजी ने राजकुमार के प्रेतात्मा को पुन बुलाकर उससे जावित होने को कहा और माता पिता को सुखी बनाने का प्रस्ताव किया, तो वह हँस कर कहने लगा—"भगवन्! आप इन्हे मेरे माता पिता किस कारण से कह रहे हैं ?"

नारदजी ने कहा—"अरे, भाई! तुम्हे इन्होंने उत्पन्न किया था। ये तुम्हारे जनक हैं,ये तुम्हारी जननी हैं।'

जीवात्मा ने कहा—"भगवन्! यदि उत्पन्न करने से ही माता पिता हैं, तो मुझे इस समय सहस्रो जन्मो की स्मृति होरही है। सहस्रों योनियो मे मैंने अनेकोंबार जन्म ग्रहण किये हैं। उन सब योनियो में मेरे माता पिता हुए हैं। तो किस किस जन्म के किस-किस योनि वालो से मैं माता पिता कहूँ। फिर मैंने भी अनेक योनियों में अनेकों सताने उत्पन्न की हैं। ये भी अनेकों बार मेरे पुत्र पुत्री बने हैं। तब तो मैं भी इनका पिता हुआ। सब योनियों में जीव के एक ही माता, पिता, बन्धु, भृत्य होने हों सो बात नहीं। कभी पिता पुत्र बन जाता है, भ्राता साला बन जाता है, माता पत्नी हो जाती है। जाति वाले विजाती में जन्म ले लेत हैं। शत्रु मित्र बन जाते हैं। साराँश यह है कि ज्ञाति, शत्रु, मि

उदासीन, बन्धु-बान्धव य सब बदलते रहते हैं, उलटते पलटते रहते हैं।

नारदजी ने कहा—"उलटने पलटने से क्या हुआ इस जन्म मे तो तुम्हारे माता पिता ही है।"

जीवात्मा ने कहा—"भगवन्! हैं नहीं, थे कहिये। जब तक जिसका सम्बन्ध रहता है, तभी तक उसका उनमें ममत्व भी रहता है। ये सभी सम्बन्ध तो शरीर के साथ हैं। जहाँ शरीर से सम्बन्ध विच्छेद हुआ तहाँ ममत्व भी छूट जाता है। जैसे रुपया, पैसा, मोहर, निष्क आदि सुवर्ण चाँदी के सिक्के हैं। जब तक हमारे पास हैं हम कहते हैं हमारे हैं, उन्हें प्राणों से भी अधिक सम्हाल कर रखते हैं। शक्ति भर खर्च नहीं करते। जहाँ हमारे पास से चले गये, हमारा उनमे से ममत्व भी चला गया। अब दूसरे के पास जाकर वे खो जायँ, टूट जायँ, नष्ट हो जायँ हमें कोई चिन्ता नहीं। हमारा एक घर है जब तक हमारे नाम है, हमारा उसमे ममत्व है, तभी तक उसके टूटने फूटने जीर्ण होने की चिन्ता है। जहाँ वह दूसरो के अधिकार मे चला गया हमारे जाने यह टूट जाय, हम उसे अपना कहते ही नहीं। इसी प्रकार जहाँ शरीर का अंत हुआ पुराने सम्बन्धो का भी अंत हो जाता है। अब मेरा इनमे कोई सम्बन्ध नहीं।

वास्तव में देखा जाय तो जीव तो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, जन्म मरण आदि से रहित है। स्वयं प्रकाश होने के कारण सबका अधिष्ठान है। यह सर्व समर्थ है, मायिक गुणों से स्वयं ही इस दृश्य प्रपंच की रचना करके इसमें स्वयं ही प्रविष्ट हो जाता है। जैसे मकड़ी अपने मुख से जाला निकाल कर उसे बुनकर उसी में अपने आप किलोल करती रहती है। आत्म-स्वरूप से यह अकर्ता है,केवल बुद्धि का साक्षीमात्र है। इसके लिये

निजत्व परत्व का भेद भाव नहीं। प्रियत्व, अप्रियत्व, शत्रुता मित्रता आदि से यह रहित है। आत्मा किसी के बन्धन में नहीं वह तो कार्य कारण का साक्षी मात्र है। जो कर्ता होता है वह क्रिया के फलों को ग्रहण करता है। यह तो शुद्ध-बुद्ध होने से गुण दोष तथा क्रियाफल से शून्य रहता है। केवल उदासीन भाव से स्थित रहता है। मेरा इनका इतने ही दिन का सम्बन्ध था। सम्बन्ध अब समाप्त हो गया। अब ये कितना भी रोवें, कितने भी चिल्लावें मैं लौट नहीं सकता। काल की गति दुर्निवार है। विधाता के विधान अकाट्य हैं, उनमें न राई भर घट सकता है, न तिल भर बढ़ सकता है। आप सर्व समर्थ हैं। आपने अपनी योग-शक्ति से मुझे बुला लिया, अब मुझे जाने की आज्ञा मिलनी चाहिए।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इतना कहकर वह जीवात्मा चला गया। राजपुत्र का शरीर पुनः मृतकवत् बन गया। अब तो राजा को चेत हुआ, 'अरे' जिसके लिये मैं इतना शोक कर रहा हूँ, जिसके निमित्त मैं इतना अधीर हो रहा हूँ, वह मुझमें इतना उदासीन है। मेरे मोह के लिये धिक्कार है, अब मैं इस शोक मोह और दुख के मूल भूत ममत्व को त्याग दूँगा अपने चित्त को समत्व में स्थापित करके इन महर्षि के बताये हुए मार्ग का अनुसरण करूँगा। इस प्रकार निश्चय करके राजा ने अपने बहते हुए आँसुओं को पोंछ डाला। देह की धूलि झाड़ी बालों को सम्हाला और बालक के प्रति जो स्नेह बन्धन बँध गया था उसे काट डाला और शोक रहित होकर नारदजी के चरणों का शरण गहा।

राजा ने मुनियों से पूछा—"हे महर्षियो! अब मुझे क्या करना चाहिए ?"

इस पर अंगिरा मुनि ने कहा—"राजन् ! उस मृतक बालक का सर्व प्रथम औौर्ध्व दैहिक संस्कार होना चाहिए।"

मुनि की आज्ञा पाकर राजा ने और उनके सगोत्रियों ने उस मृतक बालक के देह का उस समय जैसा होना चाहिए तथा जैसी शास्त्रीय विधि है उसके अनुसार-औौर्ध्व दैहिक संस्कार किया। जैसा जैसा कुलपुरोहित तथा ब्राह्मणों ने बताया वैसा वैसा कृत्य धर्मात्मा राजा ने किया।"

जब बच्चे का संस्कार हो गया, तब उन विष देने वाली रानियों को भी बड़ा पश्चात्ताप हुआ। बालक ने जो मृतक शरीर में प्रविष्ट होकर गूढ़ ज्ञान दिया था, उसका प्रभाव सभी पर पड़ा था, किन्तु उन रानियों को तो अत्यधिक आत्मग्लानि हुई। वैसे वे सब हृदय का बुरी नहीं थीं। सभी सत्कुलोत्पन्ना थी परिस्थिति ने उनकी बुद्धि विपरीत कर दी। ईर्ष्या ने सौतिया डाह ने उन्हें क्रूर निष्ठुर प्रकृति का बना दिया। अब जब वैर का कारण ही समाप्त हो गया, तो उनका हृदय भी उन्हें टोंचने लगा।

उन सब ने मुनियों के जाकर पैर पकड़े और रोते २ कहा—"प्रभो ! हम अभागिनियों के पाप का कोई प्रायश्चित्त हो सकता है क्या ?"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! मुनि तो सर्वज्ञ थे, सब कुछ जानते थे, फिर भी पाप प्रकट करने से बहुत कुछ कम हो जाता है। बहुत सा पाप निन्दा करने वालों पर चला जाता है। अतः उनके पाप को बाँटने के निमित्त अंगिरा मुनिने पूछा—"तुमसे कौन सा ऐसा पाप बन गया है, जिसके लिये तुम इतनी लज्जित और दुखी हो ?"

यह सुनकर उनमें से जो सब से वाचाल थी वह बोली—

'प्रभो! आप सब कुछ जानते हुए भी हमसे पूछ रहे हैं। अतः हम बताती हैं। इस बच्चे को ईर्ष्यावश हमने ही विष देकर मार डाला है। हमारी सबकी सम्मति से ही इसे विष दिया गया है, अतः हम सब समान रूप से पाप की भागिनी हैं। यदि हमारे इस पाप का कोई प्रायश्चित्त हो सकता हो तो कृपा करके हमें बतावें। आप जो भी आज्ञा करेंगे वही हम करने को तैयार हैं।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—' राजन्! उन रानियों की बात सुन कर मुनिवर उनके पाप का प्रायश्चित्त सोचने लगे।'

छप्पय

निज पर तें है रहित आतमा नित्य निरन्तर।
अनिय निगुण विहान सर्वगत अजर शुद्ध तर॥
साक्षी सर्व स्वतन्त्र दोष गुण हू ते न्यारो।
कर्ता भोक्ता नहीं दीपवत करहि उजारो॥
मृत कुमार को आतमा, यों कहि अन्तर्हित भयो।
सुना ज्ञानमय बात जब, तब नृपको भ्रम भगि गयो॥

विष देने वाली रानी द्वारा प्रायश्चित्त

(४२६)

वालघ्न्यो व्रीडितास्तत्र वालहत्याहतप्रभाः ।
वालहत्याव्रत चेरुर्ब्राह्मणैर्यन्निरूपितम् ॥
यमुनायां महाराज स्मरन्त्यो द्विजभाषितम् ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १६ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

जिन रानिनि विष दयो तिननि हू अति दुख कीन्हों ।
पूर्वजन्म को वैर विमाता ननिके लीन्हों ॥
मुनि के पकर पाइ पाप निज सत्य सुनायो ।
सब सुनि प्रायश्चित्त सबनि तें सविधि करायो ॥
हतप्रभ लज्जित नारि सब, यमुनाजी में न्हाइके ।
पछिताईं कल्मप रहित, भईं कृष्ण गुन गाइके ॥

पाप चाहे सकल्प पूर्वक हो, इच्छा से हो, अनिच्छा से हो। उसका फल तो भोगना ही पडता है, अत. कभी भूलकर भी

* श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"हे महाराज ! वे जो विष देने वाली रानियाँ थीं, वे बालहत्या के कारण हतप्रभ और लज्जित हो रही थीं। उन्होंने महामुनि अङ्गिराजी के भाषण को स्मरण करके, ब्राह्मणों ने जैसे बताया वैसे ही यमुना के किनारे बालहत्या का प्रायश्चित्त किया।

पाप न करना चाहिये। सदा इस बात की चेष्टा करते रहना चाहिये कि हमारे द्वारा असावधानी मे भी पाप न होने पावे। साथ ही पापी की निन्दा भी न करनी चाहिए। हम जैसी भावना करते हैं, जैसे विचारों मे निमग्न रहते हैं वैसे ही हो जाते हैं। सोच लेना चाहिए सभी स्वकर्म सूत्रों मे बँधकर विवश हुए कार्य कर रहे हैं। अच्छे बुरे सभी काम पूर्वजन्मो के संस्कारों द्वारा-प्रारब्ध से प्रेरित होकर प्राणी करता है। हम उसकी निन्दा करके उसके पापो मे भाग क्यो लगावे। क्यो मन का उनसे ससर्ग होने दे। इस सबको भगवान् की क्रीडा ही क्यों न समझें।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन! जब वे विष देने वाली रानियाँ अपने कर्म पर अत्यंत लज्जित हुईं, तब महामुनि अङ्गिरा ने उनके पाप का प्रायश्चित्त बताया। उसके कराने की विधि ब्राह्मणों को समझाई वे सबकी सब महलो को छोडकर कल-कल निनादिनी यमभगिनी कृष्ण प्रिया कालिन्दी के तट पर जाकर व्रत उपवास करने लगी और ब्राह्मणो के बताये हुए प्रायश्चित्त कर्मों को अव्यग्र भाव से करने लगीं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो पाप हो जाने पर जिसे हार्दिक सच्चा पश्चात्ताप होता है और उसका शास्त्रीय रीति से प्राय-श्चित्त करता है उसका वह पाप कुछ काल मे छूट जाता है।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"महाभाग! सूतजी! हमे इस बात का आश्चर्य हो रहा है, कि रानी इतनी सावधानी रखती थी, उसके सम्मुख कुमार पर विष का प्रयोग किया ही कैसे गया। फिर एक दो नहीं लाखो रानियाँ थीं, वे सबकी सब सत्कुलोत्पन्ना राजकुमारी थीं। उनमे से एक ने भी इस निन्दित कर्म का विरोध क्यों नहीं किया? जब बात इतने कानो मे

पहुँच गई, तो राजमहल में भी यह बात छिपी कैसे रही? रानी तक यह बात पहुँची क्यों नहीं?"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"भगवन्! आपकी इन सब बातों का मैं एक ही बात में उत्तर दिये देता हूँ, कि जैसी भवितव्यता होने को होती है वैसी होकर रहती है। लाख प्रयत्न करो भवितव्यता अन्यथा नहीं होती। जैसा होने को होता है, वैसा ही बानिक बन जाता है, वैसे ही सब साज सामान जुट जाते हैं। भगवान् वैसी ही लीला रच देते हैं। एक राक्षस था उसने घोर तपस्या की। ब्रह्माजी प्रसन्न हुए, उसने वर माँगा कि ब्रह्मलोक को छोड़कर मेरी कहीं मृत्यु ही न हो। ब्रह्माजी ने तथास्तु कह दिया। अब वह राक्षस मरता ही नहीं था। मर कर ही ब्रह्मलोक जा सकता है। पृथिवी पर मर नहीं सकता मृत्यु होना आवश्यक है। अतः भगवान् एक बड़े सुन्दर हंस का रूप बनाकर उसके सम्मुख उड़ने लगे। उस चित्र विचित्र हंस को देखकर असुर ने उसे पकड़ लिया और खेल खेल में उसके ऊपर चढ़ गया हंस उड़ा और सीधा उसे ब्रह्मलोक ले गया। वहाँ जाकर उसके शरीर का पात हो गया।

एक दूसरा असुर था, उसने वर माँगा कि जल को छोड़ कर मुझे किसी से भय ही नहीं। उसे जब यह वर मिल गया तो सदा जल से बचा रहता था, कभी भूलकर भी जल में प्रवेश नहीं करता था। जब उसकी मृत्यु निकट आई तो वह मृत्यु से बचने को ऊँचे पहाड़ की चोटी पर चला गया। उसी समय वह क्या देखता है, कि समुद्र उमड़ा चला आ रहा है, उसे प्रतीत हुआ, कि यह समुद्र इस पर्वत के शिखर तक पहुँच कर इसे डुबो देगा। असुर चारों ओर से घिर गया था, बड़ा

घबड़ाया। कहाँ तो प्राणों को बचाने आया था, कहाँ प्राणों पर आ पड़ी। उसी समय उसे बड़ा भारी द्वीप के समान डील डौल वाला एक कछुआ दिखाई दिया। असुर प्राण रक्षा के लिये उसी पर चढ़ गया। वह कछुआ और कोई नहीं था, काल स्वरूप कृष्ण ने ही यह कच्छ रूप बना रखा था। जब वह असुर बैठ गया तो कछुआ स्वामी ने एक बुडकी लगाई। गोविन्दाय नमो नमः हो गई। असुर मर गया। भगवन्! हिरण्यकशिपु ने अपने मृत्यु के कितने २ बचाव किये अस्त्र से न मरूँ, शस्त्र से न मरूँ, दिन मे न मरूँ रात्रि में न मरूँ। पृथिवी पर न मरूँ, स्वर्ग में न मरूँ, मनुष्य से न मरूँ, पक्षी से न मरूँ। भगवान् ने इन सबका बचाव करते हुए उसे नृसिंह रूप रखकर मार ही डाला। सो प्रभो! उस बच्चे की तो ऐसी ही मृत्यु बदी थी, इसीलिये बात फैली नहीं रानी भी उस समय असावधान हो गई।"

रही यह बात, कि किसी ने उस क्रूर कर्म का विरोध क्यों नहीं किया? सो ब्रह्मन! वैसा ही संयोग था जिनकी एक साथ मृत्यु बदी होती है वे देश देशान्तरों से उसी समय इकट्ठे हो जाते हैं, सब नौका पर चढ़ जाते हैं नौका डूब जाती है मर जाते हैं। इन सबका कारण होता है। अकारण कोई भी घटना नहीं होती। पूर्वजन्म में हमने जिसका अपकार किया होगा इस जन्म में वही हमारा भी आकर अपकार करेगा। पूर्वजन्म में जिसे हमने मारा होगा, इस जन्म में वही आकर हमे मारेगा। पूर्वजन्म मे इस बच्चे ने इन सब रानियों को मारा था। इनकी मृत्यु इसी के हाथों से हुई थी। ये सबकी सब बदला लेने के सङ्कल्प से साथ ही मरी थीं। प्रारब्धानुसार भिन्न-भिन्न स्थानों मे प्रकट हुईं। भाग्यवश ही सबकी सब फिर पुत्रहीन राजा की

पत्नियाँ बनकर एकत्रित हो गईं।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! पहिले जन्म में ये स्त्रियाँ कौन थीं। क्यों इनको इस कुमार ने मारा था?"

इस पर सूतजी ने कहा—"महाभाग! सभी स्त्रियाँ पूर्व जन्म में चींटियाँ थीं। लाखों करोड़ों साथ ही बिल में रहती थीं। एक दिन भगवान् के नैवेद्य के चावलों को लिये हुए ये अपने बिल में घुस रही थीं। यह कुमार भी पहिले राजकुमार ही था। यह बैठा बैठा देख रहा था इतनी चींटियों को एक साथ देखकर इसे एक कुकर्म सूझा। सम्मुख ही जल गरम हो रहा था। पानी खोल रहा था। इसने विनोद विनोद में ही गरम पानी के पात्र को इन चींटियों के बिल में उड़ेल दिया। इसमें गरमी पाकर सबकी सब चींटियाँ मर गईं।

भगवान् के नैवेद्य का उन्होंने स्पर्श किया था, इस पुण्य से तो वे सबकी सब रानियाँ हुईं और अपना बदला लेने के लिये उन्होंने विष दिया। यह राजकुमार भी ज्ञानी था। भूल से उससे यह पाप बन गया। उसका संस्कार इसके हृदय पर अवशिष्ट था। उसे भोगने के लिये इसे फिर पवित्र राजकुल में जन्म लेना पड़ा। जब इन्होंने उसे विष दे दिया, तो यद्यपि उसकी अकाल मृत्यु हुई थी, फिर भी ज्ञान के कारण मुक्त हो गया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार सभी कार्य किसी कारण से ही होते हैं। सभी जीव प्रारब्ध के वशीभूत होकर कार्य करते हैं। सभी का संयोग निश्चित है। अतः किसी घटना को देखकर न तो सोच करना चाहिए न विस्मय में पड़ना चाहिये। यह जो होता है सब ठीक ही होता है। लीलाधारी की लीला है, विनोदी का विनोद है। यह मैंने

उन रानियों का वृत्तान्त सुनाया, अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

इस पर शौनकजी ने कहा—'सूतजी ! रानियों की बात तो हमने सुनी। अब राजा की बात सुनना चाहते हैं। उनका क्या हुआ, वे संकर्षण भगवान् की उपासना करके सिद्ध हुए या नहीं। इस वृत्तान्त को हमें और सुनाइये। इसे सुनने के लिये हमें बड़ा कुतूहल हो रहा है।"

ऋषियों को ऐसी उत्सुकता देखकर सूतजी बोले—"मुनियो ! अब मैं आपको महाराज चित्रकेतु के उत्तर चरित्र को सुनाता हूँ। आप सब सावधान होकर श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

राजन् ! सुख दुख देइ न कोई कबहुँ अकारन।
पूर्व बैर करि यादि करें उच्चाटन मारन ॥
चींटी पूरब जन्म माहिं ये सबई रानी।
क्रीडा महँ अति उष्ण कुमर ने छोड़्यो पानी ॥
उष्ण तोइ के परतईं, ये सबकी सब मरि गईं।
चित्रकेतु के भवन महँ, तेई सब रानी भईं ॥

महाराज चित्रकेतु को विद्याधराधिपत्य की प्राप्ति

(४३०)

चित्रकेतुस्तु विद्यां तां यथा नारदभाषिताम् ।
धारयामास सप्ताहमब्भक्षः सुसमाहितः ॥
ततश्च सप्तरात्रान्ते विद्यया धार्यमाणया ।
विद्याधराधिपत्यं स लेभेऽप्रतिहतनृपः ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १६ अ० २७, २८ श्लो०)

छप्पय

रानिनि कीन्हों जाइ बालहत्या नाशक व्रत ।
नारद तें लै मन्त्र नृपति घरतें निकसे इत ॥
केवल जल पी रहें सात दिन मन्त्र जपत नित ।
शोक मोह सब गयो लग्यो सकर्षण महँ चित ॥
विद्याधर पति ह्वै गये, मनुज देह ई तें नृपति ।
पहुँचे सकर्षण ! निकट, बढ़ी योग ते विपुल गति ॥

आत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सिद्ध गुरु की दी हुई विद्या कभी व्यर्थ नहीं जाती । उनकी बताई विधि से सावधानी के साथ किया

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महर्षि नारद की बताई हुई उस विद्या को राजा चित्रकेतु ने उनकी बताई हुई विधि के अनुसार ७ दिनों तक केवल जल पीकर एकाग्र चित्त से धारण किया इसके अनन्तर

हुआ अनुष्ठान सफल ही होता है। पात्र भेद से उसके फल में कुछ अन्तर हो जाय, कोई अवान्तर विघ्न हो जाये, यह दूसरी बात है। किन्तु विद्या अमोघ ही होती है। इसीलिए समित्पाणि होकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाना चाहिए। इस भवनिधि को पार कराने में समर्थ श्रीगुरुदेव भगवान् ही हैं। अन्य किसी की गति नहीं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब राजा अपने मृतक पुत्र के सभी पारलौकिक संस्कार कर चुके और उनकी रानियों ने अपने बालहत्या रूप पाप का प्रायश्चित्त कर लिया, तो महाराज चित्रकेतु भी राज, पाट, धन, परिवार, स्वजन बन्धु बान्धवों के मोह का त्याग कर उसी प्रकार घर से निकल पड़े, जिस प्रकार कीचड़ में फँसा हाथी किसी दयालु पुरुषकी कृपासे निकल जाय।

महाराज ने सबसे पहिले सर्व पातक नासिनी भगवती कालिन्दी में स्नान किया। जब वे स्नान तर्पण आदि कर चुके तब मौन धारण करके सर्व प्रथम उन्होंने भगवान् अङ्गिरा मुनि तथा नारद मुनि के पादपद्मों में प्रणाम किया। फिर अङ्गिरा मुनि ने नारदजी को अनुमति दी, कि वे राजा को मन्त्र दीक्षा दें। तब नारदजी ने ८ मंत्रों वाली गूढ़ विद्या का उपदेश दिया। राजा ने मन्त्र दीक्षा पाकर अपने गुरुदेव भगवान् नारदजी के चरणों में पुनः कृतज्ञतापूर्वक प्रणाम किया।

नारदजी ने कहा—"राजन्! आप बड़ी सावधानी से इस उपनिषद् का अनुष्ठान करें, अब मैं जाता हूँ।"

पश्चात् उस मन्त्रानुष्ठान के प्रभाव से राजा को विद्याधरों का अधिपत्य का आधिपत्य प्राप्त हुआ। अर्थात् वे देव योनि विशेष विद्याधरों के राजा हो गये।

इतना कहकर अङ्गिरा मुनिको साथ लिए हुए भगवान नारद अपने धाम ब्रह्मलोक को चले गये।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अङ्गिरा और नारद मुनि के चले जाने पर राजा चित्रकेतु ने नारदजी की बताई हुई विद्या का मन्त्रानुष्ठान विधि से एकाग्र चित्त होकर बड़ी सावधानी और तत्परता के सहित अनुष्ठान किया। वे सात दिन तक न तो सोये ही और न उन्होंने कुछ खाया ही। केवल कालिन्दी के निर्मल जल को पीकर सात दिन और सात रात्रि पर्यन्त उसी मंत्रोपनि पद् का जप करते रहे।"

सात दिन के पश्चात् एक बड़ा भारी आश्चर्य हुआ, बिना मृतक हुए ही, उनका यही शरीर दिव्य हो गया। वे मनुष्य से देवता हो गये। देवताओं की एक उपजाति है विद्याधर। विद्याधर बड़े ही रूपवान् होते हैं, वे आकाशचारी स्वच्छन्दविहारं देवगण सभी कामदेवके समान सुन्दर और सदा दिव्य वस्त्र भूषणों से अलङ्कृत रहते हैं। महाराज चित्रकेतु साधारण विद्याधर ही हो गये हों, सो बात नहीं। वे तो विद्याधरों के अधिपति होगए थे। उनकी सर्वत्र अप्रतिहत गति थी। सभी विद्याधरों के गणों का उन्हें आधिपत्य प्राप्त था। नारदजी की विद्या अमोघ थी, अतः वे विद्याधर होने पर भी उसका अनुष्ठान करते रहे। उसके प्रभाव से वे स्वयं साक्षात् तमोगुण की मूर्ति भगवान् संकर्षण शेष नागजी के चरणारविन्दों के समीप पहुँचे। उन्हें भगवान् धरणीधर के प्रत्यक्ष दर्शन हुए।

महाराज चित्रकेतु ने देखा सहस्रफणों वाले भगवान् सङ्कर्षण के एक फण पर सरसों के समान यह सम्पूर्ण भूमण्डल रखा हुआ है। उनके चारों ओर बड़े बड़े सिद्धेश्वर अञ्जलि बाँधे खड़े हुए हैं। उनके सहस्र फणों मे सहस्र मुकुट शोभायमान हैं।

मुकुटों मे नाना प्रकार की बहुमूल्य मणियाँ जगमगा रही हैं। मणियो के चाकचिक्य से वह पाताल विवर परम प्रकाशवान बना हुआ है। भगवान् का सम्पूर्ण श्रीअङ्ग कमल नाल के सदृश शुभ्र और तेजोमय है। उस पर दिव्य नीलाम्बर फहरा रहा है। किरीट, केयूर, कटिसूत्र, कङ्कण आदि आभूषणों की शोभा से सुशोभित उनका सम्पूर्ण श्रीअङ्ग झिलमिल झिलमिल कर रहा है। माधुरी सुधा का पान करने से उनके कमल नयन कुछ अरुण से हो रहे हैं। मुख मन्द मन्द मुस्कान से मनोहर और अत्यंत आकर्षक प्रतीत हो रहा है। भगवान् के समस्त ओठ हिल रहे हैं, वे सुमधुर भगवन्नाम का निरन्तर जप कर रहे हैं।

विद्याधर बने हुए राजर्षि चित्रकेतु ने स्नेहभरित हृदय से अपने इष्टदेव के दर्शन किये। भगवान् संकर्षण के दर्शन करते ही उनके समस्त पाप सताप नष्ट हो गये। उनके अंतःकरण मे जो भी कुछ मल अवशेष था, वह तत्काल ही नष्ट हो गया। इससे उनका अंतःकरण शुद्ध तथा निर्मल बन गया। जैसे भूखे को सुस्वाद भोजन मिल जाय, चिर वियोगिनी को अपना प्रियतम मिल जाय, अत्यंत दीन दुखी दरिद्र को जैसे सम्पत्ति मिल जाय। इन सबको जैसे प्रसन्नता होती है, उससे भी सहस्रों गुना प्रसन्नता राजर्षि चित्रकेतु को भगवान् के दर्शनों से हुई। उन्होंने भक्तिभाव से अपने प्रेम प्यासे नेत्रों में प्रेमाश्रु भरकर रोमांचित हुए और भूमि में लोटकर देवाधिदेव भगवान् संकर्षण के दिव्यचरणारविन्दो मे साष्टाङ्ग प्रणाम किया।

प्रथम पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय देकर भगवान् के पादपीठ की पूजा करनी चाहिये। इसलिए स्नेहवारि से उन्होंने पादपीठ को धोकर प्रेमाश्रुओं द्वारा ही पाद्यादि कृत्य किये। पवनकीर्ति भगवान् आदि देव संकर्षण के चरणों को उन्होंने प्रेम

पसारा। प्रेमोद्रेग के कारण उनका कंठ रुद्ध हो गया था। इस लिये अत्युत्कट इच्छा रहने पर भी वे भगवान् की स्तुति भी न

कर सके।

प्रेम का वेग जब कुछ कम हुआ, तब उन्होंने अपने को सम्हाला जब कुछ-कुछ बोलने की शक्ति प्राप्त हो गई, तब बुद्धिपूर्वक मन को समाहित करके समस्त बिखरी हुई चित्त की वृत्तियों का निरोध करके तथा बाह्य और अन्त.करण की वृत्ति को सयमन करके जगद्गुरु भगवान शेषजीकी स्तुति करने को प्रस्तुत हुए।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राजर्षि चित्रकेतु ने जो सकर्षण भगवान की दिव्यातिदिव्य मधुरातिमधुर स्तुति की है, उसे मैं स्तुति के प्रकरण मे कहूँगा। वह स्तुति बडी ही भावपूर्ण है।

राजर्षि चित्रकेतु की स्तुति से भगवान् सकर्षण अत्यन्त प्रसन्न हुए और प्रसन्न होकर जो उन्हें भगवान ने उपदेश दिया उसे आप सावधान होकर आगे श्रवण करें

छप्पय

कनक मुकुट मणिजटितफणनिपै चहुदिशि चमकैं।
गौर वर्ण पै परम रम्य नीलाम्बर दमकैं॥
ककणादि कटि सूत्र सजनि तें शोभा अद्भुत।
सुधापान तें अरुन नयन अति ईं आभायुत॥
श्रीअनन्त दर्शन करत, बढी हृदय महँ भक्ति अति।
गद्गद् वानी त विनय, प्रेम सहित कीन्हीं नृपति॥

चित्रकेतु को भगवान सङ्कर्षण का उपदेश

[४३१]

लब्ध्वेह मानुषीं योनिं ज्ञानविज्ञानसंभवाम् ।
आत्मानं यो न बुद्ध्येत न क्वचित्क्षममाप्नुयात् ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १६ अ० ५८ श्लो०)

छप्पय

चित्रकेतु को विनयपाठ सुनि शेष सिहाये।
तत्व ज्ञानमय गूढ़ वचन हितकर समुझाये॥
दुर्लभ है नरदेह भाग्य तें कोई पावें।
पाइ करें नहिँ भक्ति अन्त महँ ते पछितावें॥
ज्ञान दयो श्री शेष ने, भक्त प्रवर भूपति भये।
पुनि करि सेवक श्रम सफल, अन्तर्हित हरि ह्वै गये॥

इष्टदेव, गुरुदेव के दिये हुए ज्ञान का समर्थन करते हैं। गुरुमंत्र के जप का फल है, इष्टदेव के दर्शन। जिसे इष्ट वस्तु की प्राप्ति हो गई, वह कृतार्थ हो गया। उसे न फिर कुछ करना शेष रह जाता है और न फिर कर्तव्य बुद्धि से भगवत्सेवा के

---

* विद्याधरों के अधिपति राजर्षि चित्रकेतु से अनन्त भगवान कह रहे हैं—"राजन्! इस लोक में जो पुरुष जिसके द्वारा ज्ञानविज्ञान सम्भव है, ऐसी मनुष्य योनि को पाकर भी उसने आत्मभूत भगवान को नहीं जानता, तो उसे कहीं भी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती।"

अतिरिक्त कोई कर्म बन्धन ही अवशिष्ट रहता है। इष्ट जो उपदेश देता है, वह तो साधन का महत्व बताने के लिये, साधक की प्रसन्नता के लिये ही बताते हैं। सेवक को स्वामी के श्रीमुख से उपदेशादि श्रवण करने की सदा इच्छा बनी रहती है। उसी इच्छा की पूर्ति के लिये प्रभु उपदेश करते हैं। वह अन्य साधकों के लिए पथ प्रदर्शन का काम देता है, उसके सहारे असख्यो साधक अपने साध्य तक पहुँचने मे समर्थ होते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब विद्याधरो के अधिपति महाराज चित्रकेतु ने भगवान् सकर्षण के प्रत्यक्ष दर्शन किये और प्रेम मे विभोर होकर उनकी लम्बी चोडी स्तुति की तो उससे प्रसन्न होकर भगवान् अपने भक्तसे हँसते हुए बाले—"राजन्! अब स्तुति का क्या काम है, अब तो तुम सिद्ध हो गये। साधन तभी तक है जब तक इष्ट वस्तु की प्राप्ति न हो। इष्ट वस्तु प्राप्त हो गई, तो फिर शुभ साधन छूट जायँ सो बात नहीं। वे तो शरीर रहते हुए स्वभावानुसार किसी न किसी रूप मे होते ही रहेंगे। अन्तर इतना ही है, कि फिर उनमे कर्तव्य बुद्धि न रहेगी। जैसे स्वास प्रस्वास स्वय बिना प्रयत्न के आते जाते रहते है, वैसे ही सिद्धो के साधन होते रहते हैं। जिस दिन तुम्हें अङ्गिरा और नारदजी ने मेरे विषय मे उपदेश दिया, तुम तो उसी दिन सिद्ध हो चुके थे, जो कुछ न्यूनता शेष थी, वह भी मेरे दर्शनों से पूर्ण हो गई। अब तुम समझ लो कि सम्पूर्ण भूतो का पालन करता मैं ही हूँ। मैं ही सबकी अन्तरात्मा हूँ सब के हृदय में विराजकर सभी प्रकार की प्रेरणायें मेरे ही द्वारा होती हैं। मेरी दो मूर्तियाँ हैं।

राजा ने पूछा—"भगवन्! वे दो मूर्तियाँ आपकी कौन कौन हैं। कौन सी पहिली हुई कौन सा पीछे हुई।"

यह सुनकर भगवान् अनन्त बोले—"राजन्! हुई कहाँ से वे तो नित्य हैं, सनातन हैं। एक तो मेरी मूर्ति है शब्दब्रह्म दूसरी मूर्ति है परब्रह्म। इन दोनों में कोई भेदभाव या पृथकत्व नहीं। ये दोनों मेरी सनातन मूर्तियाँ हैं।"

महाराज चित्रकेतु ने पूछा—"भगवन् यह जो हमें प्रत्यक्ष प्रपंच दिखाई दे रहा है, उसका जीवात्मा के साथ क्या सम्बन्ध है?

इस पर भगवान् सङ्कर्षण बोले—"देखिये, राजन्! यह जो प्रपंच है यह जीवात्मा मे व्याप्त है। बिना प्रपंच के जीव का प्रयोजन ही क्या? उसी प्रकार जीवात्मा में प्रपंच भी व्याप्त है। दोनों का परस्पर मे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इन दोनों में भी कारण रूप से मैं ही व्याप्त हूँ। वास्तव में तो सबका एकमात्र कारण मैं ही हूँ।"

राजा ने कहा—"भगवन्! यह बात तो समझ मे आई नहीं। जब जीवात्मा और प्रपंच का परस्पर मे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है और इन सबके कारण एकमात्र आप ही है तो आप तो सत्य हैं, सुख स्वरूप हैं, एक रस हैं। ये सब बातें इस दृश्य प्रपंच में भी होनी चाहिये।"

भगवान् ने कहा—"राजन्! ये सत्य नहीं हैं। मेरे मे माया द्वारा कल्पित हैं। जैसे एक आदमी सो रहा है। सोते सोते स्वप्न में वह अपने मे ही सबको देखता है अर्थात् मैं ही सब कुछ हूँ। फिर दूसरा स्वप्न देखने लगता है, उस स्वप्न से निवृत्त हो जाता है, तब देखता था जगत् मुझसे पृथक् है मैं उसके किसी एक देश में अवस्थित हूँ। स्वप्न देखनेवाला एक ही है। एक स्वप्न में तो वह सबको अपने में ही देखता है, फिर स्वप्नान्तर में अपने को संसार के एक देश मे स्थित मानता है। वास्तव में

दोनों ही बातें स्वप्न की हैं, उनमे सत्यता नहीं है। इसी प्रकार जीव की जो ये जाग्रत स्वप्न आदि अवस्थायें हैं ये कुछ वास्तव में हैं थोड़े ही परमेश्वर की माया मात्र ही है। ये जितने भी कार्य हैं, सबके एकमात्र कारण सबके साक्षी मायातीत महेश्वर हैं और वह मैं ही हूँ। इसलिये सदा सर्वदा इन मायिक प्रपचों को भूलकर मेरा ही निरन्तर स्मरण करते रहना चाहिये। मेरा स्मरण ही सब साधनों का सार है।"

राजा ने पूछा—"जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों के अभिमानी, विश्व, तेजस् और प्राज्ञ ये बताये हैं। इनमें से किसे आत्मा माने।"

इस पर भगवान् ने कहा—"इन तीनों का भी जो साक्षी है वही आत्मा है। अजी, यों समझो। स्वप्न में हम सोते हैं, एक तो निद्रा के सुख का अनुभव करते हैं। उस समय दृश्य प्रपच तो रहता नहीं, जिनके द्वारा विषय ग्रहण करते हैं, वे इन्द्रियाँ भी अचेतन पड़ी रहती हैं। फिर भी हम अनुभव करते हैं, कि हम आज अत्यन्त ही सुख से सोये। अब दो बातें हुईं एक तो निद्रा जनित सुख और दूसरा अतीन्द्रिय सुख। इन दोनों का जो अनुभव करता है वह आत्मरूप ब्रह्म मैं ही हूँ।"

राजा ने पूछा—"तब फिर भगवन्! निद्रा आती किसे है? आत्मा को या देह को।"

इस पर भगवान् ने कहा—"आत्मा को निद्रा से क्या सम्बन्ध। जिसे निद्रा आती है, वह जागता है, आत्मा तो नित्य जागृत है। अतः निद्रा जागृति ये एक कल्पित अवस्था मात्र हैं। इन दोनों में ही जो समान रूप से साक्षी रूप से अनुगत है। इनसे सर्वथा पृथक होता हुआ भी जो कभी विकृति को प्राप्त नहीं होता वह केवल शुद्ध ज्ञान स्वरूप ही परब्रह्म है।"

इस पर राजा ने पूछा—"तब प्रभो! जीव बन्ध मोक्ष के चक्कर में क्यों फँस जाता है है। इसे नाना योनियों में पुनः पुनः जन्म क्यों लेना पड़ता है?"

भगवान् संकर्षण ने उपेक्षा के स्वर में कहा—"अजी, कहाँ जन्म लेना पड़ता है, न कहीं बन्ध है न मोक्ष व्यर्थ में मिथ्या कल्पना में पड़कर जीव अकारण भटकता रहता है। कंठ में माला पड़ी है, बाहर ढूँढ़ रहा है माला कहाँ है माला कहाँ है। एक आदमी है, उसने आवश्यकता से अधिक भाँग चढ़ा ली है, उसी भाँग के नसे में बच्चे को बगल में दबाये घर आया। घर पर आते ही याद आया छोरा नहीं है। अब यहाँ ढूँढ़ वहाँ ढूँढ़। बड़े दुखी बड़े चिन्तित। कहीं सुख नहीं, कहीं शान्ति नहीं। किसी दयालु ने उसे अत्यन्त व्यग्र देखकर पूछा—"क्यों जी, आप क्या ढूँढ रहे है? क्यों इतने चिन्तित और दुखी हैं?"

उसने कहा—'जी, क्या बताऊँ। घर से आया था अपने छोरा को संग लाया था, वह खोगया है उसे ही ढूँढ रहा हूँ।"

उस आदमी ने हँसकर कहा—"छोरा तो आपकी बगल में ही है। इधर उधर आप व्यर्थ कहाँ भटक रहे हैं?"

तब उसने देखकर प्रसन्नता के साथ कहा—"वाह! यह अच्छी रही "बगल में छोरा। नगर गाँव में ढिंढोरा" सो राजन्! जब जीव मेरे इस परब्रह्म स्वरूप को भूल जाता है, तभी वह अपने आत्म स्वरूप से अपने को बिछुड़ा सा अनुभव करने लगता है, अपने को संसारी कर्मों में बँधा हुआ समझकर नाना योनियों के सुख दुख जन्म मरण को अपने में ही मानकर संसारी बन जाता है।" इसलिये जिसे सबके आत्मारूप परमेश्वर का ज्ञान हो गया, वह तो सांसारिक दुःखों से

सर्वदा के लिये मुक्त हो गया। जो इस ज्ञान से वञ्चित रहा वह तो फिर—"पुनरपिजननं पुनरपिमरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्। के चक्कर में पड़ा पड़ा गेंद बन जाता है, जो ठोकर के सहारे उछलता और गिरता रहता है। यह ज्ञान मनुष्य देह में ही संभव है। अतः! जिसने मनुष्य देह पाकर इस ज्ञान को प्राप्त कर लिया, उसने तो मनुष्य देह का फल पा लिया, जो इससे वञ्चित रहा वह तो गोविन्दाय नमोनमः हो गया।"

विद्याधराधिप चित्रकेतु ने कहा—"भगवन्! यह प्राणी सदा सुख के लिये ही प्रयत्न करता रहता है। फिर इसे दुःख की प्राप्ति क्यों होती है?"

इस पर अनन्त भगवान् बोले—"महाराज! दुःख का कारण है, फलकी इच्छा। ये संसारी लोग विषय सुखों की प्राप्ति के लिये दिनरात्रि कितना प्रबल प्रयत्न करते रहते हैं। दिनरात्रि एक कर देते हैं। अहर्निशि व्यग्र बने रहते हैं; किन्तु सुख इसलिये नहीं मिलता कि वे अनित्य वस्तुओं के लिये फलाकांक्षी होकर प्रयत्न करते हैं। आप वृक्ष तो लगावें बबूर का और उसे ही पालने पोसने में सदा श्रम करते रहें, उससे फल सुन्दर चाहें तो श्रम का फल तो होगा ही, किन्तु विपर्यय फल होगा। मधुर सुस्वादु फल न लगाकर उसमें बड़े बड़े काँटे ही लगेंगे। जो पुरुष इन सांसरिक प्रवृत्तियों में नहीं फँसते, इन विषयों से निवृत्त होकर आत्मस्वरूप श्रीहरि की ही शरण में जाते हैं। कामना से निवृत्त होकर फल की वांछा नहीं रखते उनको कहीं भय नहीं। वे नित्य निर्भय पद को प्राप्त होते हैं।"

यह तो आपका कहना ठीक ही है, कि सभी स्त्री पुरुष सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिए ही समस्त कार्य करते

है, किन्तु उनकी गति तो उउटी है। जाना है उन्हें उत्तर की ओर रास्ता चल रहे हैं दक्षिण की ओर का, फिर गन्तव्य स्थान पर कैसे पहुँच सकते हैं। विपरीत पथ और विपरीत भावना होने से न तो उनका दुःख ही दूर होता है न शाश्वत सुख की ही उपलब्धि होती है।

महाराज चित्रकेतु ने पूछा—"तब फिर भगवन्! दीखता यह दृश्य जगत् ही है, इसमें आसक्ति न करे, तो फिर मनुष्य करे क्या? बिना प्यार किये तो कोई प्राणी रह नहीं सकता।

इस पर अनन्त भगवान् बोले—"मुझसे प्यार करे, मेरा भक्त हो जाय। इतना करना पर्याप्त है।"

राजा ने पूछा—"कैसे भक्त हों महाराज! यह संसार छोड़ तब न?

भगवान् शीघ्रता के साथ बोले—"छोड़ने वाली बात क्या है, भैया! यह मनुष्य प्राणी अभिमान में भरकर अपने को ही सब कुछ समझता है, इसीलिये इसे विपरीत फल की प्राप्ति होती है। आत्मा की गति तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से विलक्षण है। जब तक इस लोक के वैषयिक पदार्थों से तथा परलोक के दिव्य पदार्थों से विराग नहीं होता, तब तक मेरी भक्ति अत्यन्त दुर्लभ है। विषयों का भक्त मेरा भक्त हो ही नहीं सकता। जो बाहरी ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ और मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार ये भीतर की इन्द्रियाँ संसारी वस्तुओं में संलग्न हैं उन्हें ही सत्य समझकर ग्रहण करती हैं तब तक योग मार्ग में कुशलता प्राप्त नहीं हो सकती। जब समस्त भीतरी बाहरी इन्द्रियों द्वारा एकमात्र उन आनन्दघन सच्चिदानन्द परब्रह्म सुख स्वरूप श्रीहरि का ही दर्शन करता है, वह मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। यही सच्चा

भगवद्भक्त है। मनुष्य के लिये यही सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है, इसी का नाम परम पुरुषार्थ है। यदि तुम भी इस मेरे उपदेश के अनुसार अपने समय को व्यतीत करोगे, तो तुम ज्ञान विज्ञान परितृप्त नित्यमुक्त भगवद्भक्त हो जाओगे।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार और भी भाँति २ के उपदेश देकर अनन्त प्रभु वहाँ के वहीं अन्तर्धान हो गये। राजा उनके दर्शन से प्रमुदित हुए हक्के बक्के से खड़े के खड़े ही रह गये। जैसे कोई स्वप्न से निवृत्त होकर विस्मित भाव से इधर उधर आश्चर्य से देखता है वैसे ही राजा इधर उधर चकित भाव से आँखें मलते हुए देखने लगे। फिर जिस दिशा में भगवान् अन्तर्हित हुए थे उस दिशा को प्रणाम करके वे आकाशमार्ग से स्वच्छन्द विचरण करने लगे।"

छप्पय

हरि अन्तर्हित भये रहे विद्याधर विस्मित।
भौचक्के से होइ निहारे पुनि पुनि उत इत ॥
करि धरनीधर दरस मनोरथ सफल भये सब।
मिट्यो सकल सन्ताप कृतारथ भये भूप अब ॥
सङ्कर्षण जिहि दिशा महँ, दे सिख अन्तर्हित भये।
करि प्रणाम तिहि दिशा कूँ, चढ़ि विमान में उड़ि गये ॥

चित्रकेतु का भरी सभा में शिवजी पर आक्षेप

(४३२)

एकदा स विमानेन विष्णुदत्तेन भास्वता।
गिरिशं ददृशे गच्छन् परीतं सिद्धचारणैः॥
आलिङ्ग्याङ्गीकृतां देवीं बाहुना मुनिसंसदि।
उवाच देव्याः शृण्वत्या जहासोच्चैस्तदन्तिके॥*

(श्री भा० ६ स्क० १७ अ० ४, ५ श्लो०)

छप्पय

अष्टसिद्धि नवनिद्धि नृपति के निकट विराजें।
विद्याधरपति भये तेज महँ रवि सम भ्राजें॥
एक दिना कैलाश गये शिव शिवा सग महँ।
बैठे लै के श्रक मिलायें श्रग-श्रग महँ॥
हँस्यो देखि शिव सन कहे, वचन कठिन श्रति व्यङ्ग तें।
तजि लज्जा लिपटे रहें, शम्भु शिवा के श्रङ्ग तें॥

आर्य धर्मशास्त्र में जितने नाम वाले पदार्थ हैं, सबको सजीव योनिवाला बताया गया है, श्रंडज, पिंडज, स्वेदज और

---

*श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! एकबार चित्रकेतु भगवान् के दिये दिव्य विमान पर चढ़कर आकाश से जा रहा था। तब उसने सिद्ध चारणों से घिरे हुए भगवान् भोलेनाथ को देखा। वे मुनि-मण्डली में अपनी प्रिया भगवती पार्वती का बाहु से आलिङ्गन किये

जरायुज ये तो मर्त्यलोक के प्राणी हैं देव, दैत्य, दानव, ऋषि गंधर्व आदि अनेकों ऊपर के लोकों की जातियाँ हैं। धर्म, अधर्म ये भी सब व्यक्ति विशेष हैं, इनका भी वंश बढ़ता है, इनके भी जातियाँ हैं काम की उत्पत्ति कैसे हुई काम की बहू कौन है उनके बच्चे कौन हैं इन सब बातों का पुराणों में वर्णन है। यहाँ हमें मद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बताना है। यह तो सभी जानते हैं कि मनुष्य के काम क्रोधादि ६ शत्रु बताये हैं। उनमें एक 'मद' भी है। मद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक पौराणिक कथा है। यह कथा वृत्रासुर की उत्पत्ति से मिलती जुलती भी है। एक बार भगवान् च्यवन ऋषि इन्द्र के किसी अपराध पर उससे क्रुद्ध हो गये। उन्होंने अपने तपोबल से इन्द्र को मारने के निमित्त एक शत्रु को पैदा किया। जब यह बात इन्द्र ने सुनी, तब तो उनके छक्के छूट गये। च्यवन के तप, तेज, प्रभाव से वे भली-भाँति परिचित थे। अन्य कोई उपाय न देखकर वे दौड़े-दौड़े च्यवन ऋषि के पास आये आकर अपने मणिमय किरीट से युक्त मस्तक उनके चरणों में रख दिया और अत्यन्त ही विनीत भाव से उनकी प्रार्थना करने लगे। ब्राह्मण का हृदय तो नवनीत के समान होता है तनिक में पिघल जाता है मुनि प्रसन्न हो गये उनका क्रोध जाता रहा वे [illegible] चिन्ता के साथ बोले— भैया, इन्द्र! तुम [illegible] नहीं तो यह मेरा उत्पन्न किया हुआ असुर तुम्हें निश्चय मार डालता। यह बड़ा बली है अब इसे कहाँ रखूँ। [illegible] इ। धारण कर सके तुम जहाँ कहो वहाँ [illegible]।

इन्द्र ने कहा—"भगवन्! जब यह तीनों लोकों के स्वामी मुझ भी मारने में समर्थ है, मुझसे भी बली है तो इसे बहुत स्थानों में बाँट दीजिये।"

मुनि ने कहा—"अच्छी बात है, इसे हम सभी स्थानों में बाँटे देते हैं। एक तो यह स्त्रियों में बहुत रहेगा। विशेष कर युवतियों में, वे सदा मदमाती बनी रहेंगी। जुआड़ियों में रहेगा। सुरा मे, मृगया मे, जितनी भर विद्यायें हैं उनमें, समस्त शिल्पो मे, रूपवानों मे, बलवानों मे, कुलीनो मे, ऐश्वर्यशालियों और कहाँ तक कहें सभी प्राणियो मे सामान्य रूप से रहेगा। हाथियो मे और मद्य मे विशेष रहेगा। कहाँ तक कहें त्यागी भी इससे न बचने पावेगे।" तभी से यह मद प्राणियो में रहकर उन्हे मदमाता बनाये रहता है। विशेषकर जो ऐश्वर्यशाली है, जिन्हे अपने तप, तेज, ऐश्वर्य का अभिमान है उन्हे यह बहुत तंग करता है। मद में भरकर ही तो लोग बड़ो का अपमान करते हैं, इसोलिये वे शाप से शापित होकर क्लेश उठाते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! विद्याधराधिप महाराज चित्रकेतु भगवान् सङ्कर्षण के दर्शनों से और उनके उपदेश से कृतार्थ हो चुके थे। उन्हें जो वैराग्य हुआ था अत्यन्त शोक के कारण तामस भाव से हुआ था। इसीलिये भगवान् नारद ने भगवान् की तमोमयी मूर्ति की उपासना बताई। अज्ञान निवृत्त हो जाने पर भी प्रतीत होता है, उनके कुछ प्रारब्ध शेष रह गये थे। ज्ञान हो जाने पर भी जीवन्मुक्त पुरुषका प्रारब्ध शेष रह जाता है। संचित कर्मों के नाश हो जाने पर भी शरीर के प्रारब्ध कर्मों का तो भोग भोगना ही पड़ता है, उनमें आसक्ति न हो, उन्हें प्राप्त करके सुख दुःख का अनुभव न करे यह दूसरी बात है।"

महाराज चित्रकेतु के भी कुछ भोग अवशेष थे। उन्हें भोगत हुए वे आकाशमार्ग से दिव्य लोको में विचरण करने लगे। भगवान् ने उन्हें एक अत्यन्त ही तेजोमय सर्व सम्पत्ति युक्त सुख-कर दिव्य विमान दिया था। विद्याधरों की जो सबसे सुन्दरी कन्यायें थीं, वे सदा उनकी सेवा मे रहने लगीं। अत्यन्त सुन्दरी गाने, वजाने और नाचने मे प्रवीण सहस्रों सुरसुन्दरी अप्सराये उनकी उपासना करतीं। अपने महान् योग के प्रभाव से उन सब भोगों को निष्काम भाव से भोगते हुए वे स्वच्छन्द विहार करने लगे। कभी वे इन्द्रलोक चले जाते, कभी वरुणलोक क रमणीय वनो में सुखपूर्वक विचरतें। कभी गन्धर्वों के लोको मे जाकर गायन सुनते, कभी सिद्धो के लोकों मे आनन्द उठात। कभी सुमेरु पर्वत की कन्दराओं मे किलोले करते। कभी गन्धर्वों से भगवान् की लीलाओं का अनुकरण कराते, कभी विद्याधरो क सुन्दर गानेवाली सुन्दरियो से श्रीहरि का सुयश गान कराते और उस बडी श्रद्धा के साथ श्रवण करते।

इस प्रकार सुखपूर्वक वे अपने काल यापन करने लगे। उन्हें अपने योग का, अपने ऐश्वर्य का, अपनी अव्याहत गति का कुछ तनिक सा मद भी हो गया था। भगवद्भक्तों को प्रथम ता कभी मद होता नहीं। कदाचित् किसी कारण से हो भी जाय तो मदहारी मधुसूदन उनके मद का तुरन्त नाश कर देते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! अब विद्याधरों के स्वामी महाराज चित्रकेतु मुनि सिद्ध तथा गन्धर्ववारणों द्वारा अपने सुयश को सुनते हुए इधर से उधर घूमने लगे। एक दिन वे घूमते फिरते कैलाश के ऊपर से जा रहे थे। वहाँ उन्हें मुनि जनों की गोष्ठी मे बैठे हुए भगवान् भूतनाथ दिखाई दिये।

शिवजी के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के निमित्त उन्होंने विमान नीचे उतारा और विमान में बैठे ही बैठे उसने शिवजी के दर्शन किये। वहीं से उसने उन्हें प्रणाम किया।

शिवजी कैलाश के एक अति रमणीय प्राकृतिक सौन्दर्य से युक्त शिखर पर विराजमान थे। बहुत से सनकादि ऊर्ध्वरता ब्रह्मचारी उन्हे घेरे हुए बैठे थे, मुनि मंडली के मध्य में शिवा के साथ बैठे हुए शिवजी ऐसे प्रतीत होते थे मानो आकाश मंडल में ताराओं से घिरे रोहिणी के सहित चन्द्रमा बैठे हो। सिद्धचारण गन्धर्व उनकी स्तुति कर रहे थे। भूत, प्रेत, पिशाच, डाकिनी, साकिनी, यक्ष राक्षस, गन्धर्व वैताल तथा गुह्यक आदि उपदेव उनकी सेवा में समुपस्थित थे चिता की शुभ्र भस्म से वे जाज्वल्यमान सूर्य के समान चमक रहे थे। जटाओं में गङ्गाजी हिलोरें मार रही थीं। माथे पर द्वितीया के चन्द्रमा तिलक के साथ दमदमा रहे थे। रुद्राक्ष की मालाओं से उनका श्रीकंठ सुशोभित था। बाजू बन्दो के स्थान मे भी रुद्राक्ष बँधे थे। भगवान् की गोद में त्रैलोक्य सुन्दरी पार्वती वस्त्राभूषणों से अलंकृत सोलह श्रृङ्गार किये हुए विराजमान थीं। भगवान् अपने बायें हाथ से उनका आलिङ्गन किये हुए थे। दायें हाथ से मुनियों को उपदेश दे रहे थे। शिवा और शिव के वक्षःस्थल सटे हुए थे। प्रेम में निमग्न हुई भगवती शरीर को ढीला किये हुए भगवान् के अङ्क मे ब्रह्मानन्द सुख का अनुभव कर रही थीं। सब मुनियों का तो इधर ध्यान ही नहीं था। क्योंकि वे तो अर्धनारी नटेश्वर शिव के उपासक थे। उनके लिये शिव और शिवा में कोई भेद ही नहीं था एक ही शरीर के दो अङ्ग हैं ऐसी उनकी विशुद्ध दृढ धारणा थी।

भगवान् भोलेनाथ के इस रूप मे दर्शन करके विद्याधर

चित्रकेतु को प्रसन्नता नहीं हुई। उसने समझा शिवजी सदाचार का उल्लंघन कर रहे हैं। यह ठीक है अपनी अर्धाङ्गिनी धम-

पत्नी को अंक मे बिठाना कोई पाप न
सामने ऐसा व्यवहार शोभनीय नहीं है। महाराज ऐसा मनमें

नाचकर शिवजी को प्रणाम करके चले जाते, तो भी ठीक था, किन्तु उन्हें तो उस समय ऐश्वर्य और योग के मद ने घेर लिया था। वे भगवान् शिव की भरी सभा में आलोचना करने लगे।

भगवान् अर्धनारी नटेश्वर शिव को देखकर हँसते हुए और जगज्जननी भगवती पार्वती को सुनाते हुए वे बोले। किसी मनुष्य से नहीं आकाश में अपने आप ही सबको सुनाते हुए बिना किसी को सम्बोधित किये कहने लगे—"हैं! देखिये, भगवान् की कैसी विचित्र माया है। इन शिवजी का नाम महादेव देवाधिदेव है। अर्थात् ये पशु, पक्षी, मनुष्य देवता समस्त प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। ये सर्व धर्मों के आचार्य भी हैं। इनके वाक्य प्रमाण में उद्धृत किये जाते हैं, ये धर्मों के वक्ता, उपदेष्टा और शिक्षक हैं। इनका एक नाम सदाशिव जगद्गुरु भी है। इतना सब होने पर भी इनके आचरण इतने क्षुद्र हैं, कि कोई सामान्य पुरुष भी नहीं कर सकता। भरी सभा में ये अपनी भार्या को अंक में विठाकर उसका आलिङ्गन किये बैठे हुए हैं।

वैसे मैं शिवजी की निन्दा नहीं करता। ये तो महान् तपस्वी हैं। तपोमूर्ति ही हैं, मूर्तिमान धर्म हैं, ब्रह्म वेत्ताओं के अग्रणी हैं। नियम, व्रत, जप, तप, समाधि के स्वरूप हैं, इनकी बड़ी बड़ी जटायें शरीर की भस्म ये सब तपस्वियों के चिन्ह हैं। इनका तप तेज तो प्रत्यक्ष ही है कि इस इतनी बड़ी सभा जिसमें सनकादि महर्षि तथा अन्यान्य सिद्ध, चारण, गन्धर्व, देवता, ऋषि मुनि तथा और भी बड़े बड़े लोकपालादि विराजमान हैं, इन सबसे ये उच्चासन पर विराजमान हैं। इस सभा के ये सम्माननीय सभापति हैं। इतना सब होने पर भी न जने

क्यों ये इस भरी सभा में साधारण विषयी कामी पुरुषों की भाँति निर्लज्ज होकर स्त्री को गोद में बिठाये हुए हैं।

इस पर कोई कह सकते हैं, कि अपनी अर्धाङ्गिनी धर्मपत्नी को गोद में बैठाने में क्या दोष ? तो दोष चाहे न भी हों, किन्तु यह बात लोक मर्यादा तथा सदाचार के विरुद्ध है। साधारण विषयी पुरुष भी इस प्रकार का आचरण अपनी पत्नी से एकान्त में करते हैं। स्त्रियाँ अपने पति से सबके सामने लज्जा करती हैं। परदे में रहती हैं। किन्तु ये इतने बड़े व्रतधारी तथा तपस्वी होकर भी सबके सामने बिना शील सकोच के स्त्री को गोद में बिठाये हैं, क्या यह सदाचार के विरुद्ध नहीं है ?"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! विद्याधराधिप महाराज चित्रकेतु की ये व्यङ्ग भरी बातें सभा में बैठे सभी लोगों को बुरी लगीं। किन्तु सभा के नियम के विरुद्ध बिना सभापति की अनुमति के कोई बोल कैसे सकता है। किसी की बात का प्रत्युत्तर या खंडन मंडन कैसे कर सकता है। इसीलिये सब भगवान् शूलपाणि के श्रीमुख की ओर देखने लगे। शिवजी तो भोले ही बाबा ठहरे। चित्रकेतु की इन कटाक्षपूर्ण बातों को सुनकर परम गंभीर अगाध बुद्धि भगवान सदाशिव हँस पड़े। उनके हास्य की शुभ्रता से दशों दिशायें धवलित हो उठीं आकाश उनके अट्टहास से गुञ्जायमान हो गया। उन्होंने अपने हास्य से यह ध्वनित किया कि यह बच्चा है, इसकी बात का कुछ भी विचार न करना चाहिये। जिस बात की सभापति ही उपेक्षा कर रहा है स्वयं ही इस विषय को आगे बढ़ाना नहीं चाहता, तो सभा में बैठे अन्य सदस्यगण भी उन्हीं के अनुसार मौन रहे। बात यह है, कि बड़े लोगों में बड़ी गंभीरता होती है। जो नये साधक होते हैं वे नया वैराग्य नया रक्त—होने के कारण बड़ी उछल कूद

मचाते हैं। बड़े लोगों के आचरण मे तनिक सी बात भी उन्हें अपनी बुद्धि से विपरीत दिखाई दी, तो उसपर वे बड़े-बड़े व्यंग कसते हैं। न कहने योग्य बातें कह जाते हैं। जो कल तक उनके सामने नंगा घूमता था आज वही तनिक सी सिद्धि पाकर तनिक सी प्रतिष्ठा पाकर आपे से बाहर हो रहा है। बड़े लोग समझ जाते हैं ज्यों-ज्यों इसकी अवस्था परिपक्व होती जायगी। इसकी यह चञ्चलता, उछ्ङ्खलता नष्ट हो जायगी। इसलिये वे उसके व्यंग वचनों का उत्तर नहीं देते। हँसकर टाल देते हैं! इसी न्याय से शिवजी ने चित्रकेतु की एक भी बात का उत्तर नहीं दिया। जैसे उसने असामयिक अरण्य-रोदन किया था, वैसे ही उसे उपेक्षणीय ठहरा दिया, हसकर उड़ा दिया।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! शिवजी ने तो उसकी अविनय धृष्टतापूर्व अनुचित बातों को क्षमा कर दिया। किन्तु पार्वती जी कब मानने वाली थीं। सतीस्त्रियाँ सब कुछ सह सकती हैं किन्तु जहाँ कोई उनके चरित्र के सम्बन्ध में अनुचित बात कहता है तो उसे वे सहन नहीं कर सकतीं। इसीलिये माँ पार्वती उस उछ्ङ्खल बालक को उपदेश और शिक्षा देने को विवश हुईं।

छप्पय

सिलखिलाय हर हँसे नृपति के व्यंग वचन सुनि।
निरखि शंभु रुख मौन रहे सुर असुर देव मुनि॥
किन्तु सहन नहिं भये कुपति अति भई भवानी।
जान्यो है यह धृष्ट नीच अतशय अभिमानी॥
रोष सहित बोलीं शिवा, हमरे गुरु आये नये।
ब्रह्मा, हरि, नारद, कपिल, ये सब तो बूढ़े भये॥

चित्रकेतु को शिवा द्वारा शाप

[४३३]

एषामनुध्येयपदाब्जयुग्मं–
जगद्गुरुं मंगल मंगलं स्वयम् ।
यः क्षत्रबन्धुः परिभूयसूरीन्–
प्रशास्ति धृष्टस्तदयं हि दण्ड्यः ॥❀
(श्री भा० ६ स्क० १७ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

ब्रह्मादिक नित लखें नहीं बरजे श्री शिवकूँ ।
आये ये आचार्य धर्म समुझावन हमकूँ ॥
ऋषि-मुनि साधक सिद्ध आइ हर पद सिर नावें ।
विद्याधर ये तिन्हें नियम आचार सिखावें ॥
अपराधी वाचाल अति, मानी परम अशिष्ट है ।
अतः नीच क्षत्रिय अधम, दण्डनीय जिह दुष्ट है ॥

माँ कभी नहीं चाहती, कि वह पुत्र को दंड दे, उसको सदा इच्छा यही रहती है, सदा उसे प्यार ही करती रहे, सदा

❀ चित्रकेतु की धृष्टता से कुपित हुई भगवती पार्वतीजी कह रही हैं—"जिनके युगल चरणकमल इन सभी देवता ऋषि-मुनि आदि के भी ध्येय हैं, साक्षात् उन्हीं मंगलों के भी मंगल जगद्गुरु भगवान सदाशिव का यह नीच क्षत्रिय निरादर पूर्वक शासन करता है, उन्हें खरी खोटी सुनाता है । इसलिये यह धृष्ट दण्ड देने योग्य है ।"

उसे छाती से चिपटा कर स्नेह ही करती रहे, सदा उसके कमल मुख को चूमती रहे। सदा उसे प्रसन्न रखे। किन्तु जब बालक अति कर देता है, उसकी उच्छृङ्खलता पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है, तो माता खीज जाती है। उसे दंड देने को बाध्य हो जाती है। छडी लेकर मारने और रस्सी लेकर बाँधने तक का अभिनय करती है। उस रोप मे भी उसका अगाध स्नेह भीतर ही भीतर भरा रहता है। पुत्र का अनिष्ट हो यह उसकी भावना नहीं रहती। उसने जो अक्षम्य अपराध अब किया है, उसे फिर न करे—इसे अपराध करने की लत न पड जाय—इसी लिये वह डॉटती है। इसीलिये उसे ऊपर से क्रोध दिखाती हुई ताडना देती है। वडो की ताडना भी सभी को नहीं मिलती भाग्यशालियों को ही वह प्राप्त होती है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब चित्रकेतु ने भगवान् सदाशिव को बहुत सी उलटी सीधी न कहने योग्य बातें कहीं, तब शिवजी ने तो हँसकर टाल दी किन्तु शिवा से ये बातें सहन न हुईं। ये उसकी हँसी उडाती हुई व्यङ्ग वचनों मे अपनेको नीच बनाती हुई और उसको तिरस्कार पूर्वक बडा बताती हुई उसकी व्याज प्रशंसा सी करने लगीं। फिर भगवती पार्वती बोलीं 'धन्य भाग! धन्य भाग! आज तक तो भगवान् शिवजी शासक न रहने के कारण स्वेच्छाचार करते रहे। जैसा मे आता वैसा लोक वेद विरुद्ध आचरण करते रहते थे। अब हमारे कोई नये शासक उत्पन्न हुए हैं। हम जैसे निर्लज्ज सदाचार से रहित पुरुषों के ये प्रभु हैं। ये हमारी चर्या मे करना चाहते हैं। ये शासक, सुधारक, उपदेशक, धर्मप्रवर्तक निधायक और अजितेन्द्रियों को सदाचार का पथ प्रदर्शन वाले हैं।

पार्वतीजी के समीप ही उनकी जया विजया दो सखियाँ
र ढुला रही थीं। जया कुछ प्रगल्भा थी अतः उसने पार्वतीजी
शांत करते हुए कहा—"महारानीजी, जाने भी दो। भगवान्
कुछ नहीं कहा। इसने लौकिक धर्म की बातें कही हैं।"

रोष में भरकर भगवती शैलकुमारी बोलीं—"ये बातें धर्म
हैं, या अधर्म की। यही सबसे बड़ा धर्मात्मा है। इसने ही
धर्म समझने का ठेका ले रखा है। जो वेदों के प्रकटकर्ता
सृष्टि के रचयिता हैं, अयोनिज हैं, धर्म के प्रवर्तक हैं, सब
पितामह हैं, वे ब्रह्माजी धर्म के मर्म को नहीं जानते ? क्या
वजी उनके सम्मुख ऐसा आचरण नहीं करते ? क्या
ावान् कमलयोनि ने शङ्कर के ऐसे आचरण की कभी आलो-
ा की है ? यह नीच भगवान भृगु से भी अधिक तेजस्वी और
स्वी होगया। जो प्रजापति हैं, जिन्हें सुर असुर सभी नमस्कार
रते हैं, जो समस्तलोक के वन्दनीय और पूजनीय माने जाते
। जो परम यशस्वी और तपस्या की मूर्ति ही माने जाते हैं।
नके अतिरिक्त वशिष्ठ, पुलह, क्रतु, अङ्गिरा, अत्रि और
रीचादि ब्रह्माजी के मानस पुत्र हैं, प्रजापति हैं, वे इस अविनय
नहीं समझ सकते ?

य जो सम्मुख बालरूप में सनक, सनंदन, सनातन और
कुमार बैठे हुए हैं, ये तो शिवजी के भी अग्रज हैं, सबके
ीय और वन्दनीय हैं, इसके पूर्वजों के भी पूर्वजों के अर्चनीय
य तो बाल ब्रह्मचारी हैं इन्होंने तो कभी स्त्री का स्पर्श
हीं किया, यदि शिवजी की यह क्रीड़ा इन्हें अनुचित और
चार के विरुद्ध लगती, तो यहाँ ये इस प्रकार हाथ जोड़े हुए
में विनीत भाव से क्यों बैठे रहते।

इनकी बगल में ही ये वीणा दबाये त्रैलोक्यवन्दित बाल ब्रह्मचारी तपोधन नारदजी बैठे हैं, जो समस्त विद्याओं के आचार्य हैं सदाचार के प्रवर्तक हैं। भक्ति के संस्थापक हैं, भगवान् के अवतार हैं, यदि भगवान् सदाशिव के आचरण को ये निषिद्ध समझते, मर्यादा के विरुद्ध अनुभव करते, तो ये इस प्रकार आकर शिवजी से प्रश्न क्यों किया करते? क्यों उनकी आकर उपासना करते?

ये योगीश्वरों के भी ईश्वर भगवान् कपिल ज्ञानावतार और सतयुग के युगावतार माने जाते हे। संसार में इनसे बढ़कर ज्ञानी कहाँ मिलेगा? कौन इनके ज्ञान की थाह पा सकता है? कामेच्छा और विषय भोग की अभिलाषा तो इन्हें स्पर्श भी नहीं कर सकती। ये स्वयं आकर शिवजी के चरणों में अपना मस्तक रगड़ते हैं, ये स्वयं आकर भगवान् से शिक्षा ग्रहण करते हैं, धर्म के मर्म को समझते हैं, यदि शिवजी को ये सदाचार च्युत समझते तो यहाँ आकर शिव वन्दना क्यों करते? क्यों इन योगेश्वर की आकर श्रद्धा भक्ति के साथ उपासना करते? राजवंशों के प्रवतक ये भगवान् स्वायंभुव मनु बैठे हैं और भी अनेकों मन्वन्तरों का शासन करनेवाले और कर चुकनेवाले बहुत से मनु यहाँ समुपस्थित हैं। जो इसके बाप के बाप के भी पूजनीय और माननीय हैं, इन्होंने शिवजी के व्यवहार को कभी धर्म विरुद्ध नहीं बताया। यही एक परम सदाचारी धर्मात्मा क्षत्रियाधम प्रकट हुआ है, कि शिवजी की चर्या को दोषपूर्ण बताता है।

मनुष्य स्वयं जैसा होता है वैसा ही वह दूसरों को भी समझता है। आँख में जैसा भी शीशा लगा ले, वैसा ही संसार दिखाई देता है। यह स्वयं क्रूर है अतः सर्वत्र क्रूरता ही देखता है।"

जया ने कहा—"महारानी जी आपका तो बच्चा ही है, क्षमा कर दो इसे।"

भगवती ने रोष के स्वर में कहा—"क्षमा करने योग्य अपराध किया होता तो मैं इसे अवश्य क्षमा कर देती, किन्तु इसने तो अक्षम्य अपराध किया है। जो समस्त मङ्गलों के भी मङ्गल स्वरूप हैं। स्वयं साक्षात् मङ्गल की सजीव मूर्ति ही माने जाते है, जो समस्त लोकों के गुरु माने जाते हैं उन शङ्कर का इसने निश्शङ्क होकर भरी सभा में सबके सम्मुख अपमान किया है उन्हें डाँटा है, अपना शासन चलाया है। सब पापियो की निष्कृति हो सकती है, किन्तु गुरुद्रोही की निष्कृति नहीं। आज यदि मैं इसे क्षमा कर दूँगी, तो इसकी देखादेखी और भी लोग अपराध करेंगे, ऐसा अपराध करने से उन्हे कोटि कल्पों तक नरक की अग्नियों में पचना पडेगा। अतः इस समय क्षमा करना इसके लिये भी हितकर नहीं है और संसार के लिये भी अहितकर है। यदि अब इसे अपने किये का दण्ड तत्क्षण मिल जायगा तो यह भी इस घोर पाप से निवृत्त हो जायगा और संसारी लोग भी सावधान हो जायँगे, कि शिव निन्दा करने वाले का किसी भी प्रकार कल्याण नहीं हो सकता। अरे, देखो तो सही इसे अपनी श्रेष्ठता का कैसा अभिमान है। जिनके युगल अरुण चरण कमलों का ध्यान करके ब्रह्मादिक देवता अपने को कृतार्थ समझते हैं, उन्हीं के प्रति यह द्वेष भाव रखता है। ऐसा अभिमानी पुरुष भक्तभयहारी अकिंचनों के धन, अमानियों के सर्वस्व भगवान् विष्णु के चरणों के निकट रहने योग्य नहीं है। इसलिये मैं शाप अवश्य दूँगी।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन ! जब पार्वतीजी ने ये बातें कहीं तब तो सभी सभा के लोग चौकन्ने हो गये। सभी ने

भक्ति, प्रभु पाद पद्मों में, सुदृढ़ अनुरक्ति। वे आर्त होकर अपने इष्ट जीवन धन के पाद पद्मों में रो रो कर प्रार्थना करते हैं— "हे प्रभो! हमारा चाहे सहस्रों लाखों योनियों में जन्म हो, शूकर, कूकर, श्वपच चांडाल किसी योनि में चाहे उत्पन्न होना पड़े। पृथ्वी पर, स्वर्ग मे, पाताल में, नरक में या नरकों से भी बढ़कर जो दुखदाई लोक हो उनमें हमे रहना पड़े। इन सब के लिये हम सहर्ष तैयार हैं, हम आपसे इस के लिये प्रार्थना नहीं करते कि आप हमारे प्रारब्ध और संचित कर्मों को मेट दें। हे अशरण शरण! हे भक्त भय भंजन! हे शरणागत प्रतिपालक! हमारी आप के चरणारविन्दों मे यही प्रार्थना है, यही भिक्षा हम आप से माँगते हैं कि किसी भी योनि में हों आप के भक्त बनकर रहें। हमारी सुदृढ़ अचला भक्ति हो। मरण समय में आप के चरणों का स्मरण बना रहे।" इसी कारण भक्त जहाँ भी जाते हैं वहीं वैकुंठ बना लेते हैं। वे स्वयं तो तरे ही हैं अपने संसर्गियों को भी तार देते हैं। भक्त के लिये घृणास्पद तो कुछ है ही नहीं। वे तो सब मे अपने इष्ट का दर्शन करते हैं। इष्ट की प्राप्ति ही परम सिद्धि है। फिर उन्हे असुर, राक्षस, भूत प्रेत, पिशाच, पशु पक्षी इनमें से किसी भी योनि से क्यों द्वेष होने लगा। वह भी तो हमारे इष्ट का ही घर है। हम तो जहाँ

मे ग्रहण करता हूँ। क्योंकि देवताओं के द्वारा प्राणियों को जो भी कुछ शाप या अनुग्रह के वचन कहे जाते हैं, वे उनके पूर्व जन्म के कर्मों के फल स्वरूप ही होते हैं। हे सति! आपको मैं प्रसन्न इसलिये नहीं कर रहा हूँ कि आप मुझे शाप से मुक्त कर दें। किन्तु हे भामिनि! आप को जो मेरे वचन अनुचित प्रतीत हुए हैं, उनके लिये ही क्षमा याचना करता हूँ। आप मुझे क्षमा कर दें।

भी रहेंगे इष्टके ही घरमें रहेंगे। हमारा मन तो उन्हीं में तल्लीन रहेगा। अतः भक्त भगवद् भक्ति को छोड़कर और किसी की आकांक्षा नहीं करते। कोई अनुग्रह कर दे तो हर्ष नहीं, शाप दे दे तो विषाद नहीं। क्योंकि ये सब तो दैव की गति से कर्मानुसार प्राप्त होते हैं। इसमें हर्ष शोक करने से क्या लाभ ?

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् भगवती पार्वतीजी का शाप सुनकर महाराज चित्रकेतु जब उनके चरणों में पड़े, तब सब ने यही समझा कि यह विद्याधरों का राजा शापसे डर गया इसी भ्रम को मिटाने के लिये विनीत भाव से महाराज चित्रकेतु बोले—'हे जगज्जननी ! हे माँ ! मैं तुम्हारे शाप को सिरसे सहर्ष स्वीकार करता हूँ। आप ने जो शाप दिया है, वह सफल हो।"

इतना सुनते ही पार्वती जी तो भौंचकी सी रह गई। यह बात नारद जी के ही सम्बन्ध में सुनी थी, कि उन्होंने दक्ष के शाप को सहर्ष स्वीकार कर लिया। किंतु वह सुना ही था, यहाँ तो प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। अत्यंत आश्चर्य के साथ गिरिराज कुमारी ने पूछा—"बेटा ! अरे; तुम बड़े साहसी हो। वरदानको तो हमने सहर्ष स्वीकार करते हुए अनेकों को देखा, किन्तु शाप को इतनी प्रसन्नता से स्वीकार करते तो आज तक हमने किसी को देखा नहीं। तुम मेरे दिये शाप को ऐसे ग्रहण क्यों कर रहे हो ? मैंने तो तुम्हारा अनिष्ट ही किया है।"

यह सुनकर विनीत भाव से चित्रकेतु बोले—"माँ ! पुत्र भले ही कुपुत्र हो जाय, माँ कभी कुमाता नहीं होती। आप तो अपनी संतानों का अनिष्ट कर ही नहीं सकतीं। आपकी बात तो पृथक् है, कोई भी प्राणी किसीका न अनिष्ट कर सकता है और न सुख ही पहुँचा सकता है। न कोई किसी को स्वेच्छा से वर-

दान ही देने में समर्थ है न शाप ही दे सकता है। पूर्वजन्म के जिसके जैसे कर्म होंगे प्रारब्धानुसार वैसा ही उन्हें सुख-दुख प्राप्त हो जायगा। शाप और वरदान देने वाले तो केवल निमित्त मात्र होते हैं, जो कुछ मिलता है, वह तो प्रारब्धानुसार ही मिलता है। मेरा कोई ऐसा ही कर्म रहा होगा। यही प्रारब्ध शेष होगा आपका इसमें क्या दोष है, जैसा मैंने कभी किया होगा, उस का वैसा फल तो कभी न कभी भोगना ही है। यह जीव अज्ञान से मोहित होकर ही संसार चक्र में—नाना योनियों में—स्वकृत कर्मानुसार सुख-दुःख उठाता हुआ, जन्मता तथा मरता रहता है। कौन किसे दुख-सुख दे सकता है। विवेक हीन पुरुष ही ऐसी बातें कहा करते हैं, उसने हमें बड़ा दुख दिया, उसने हमें अभूत पूर्व आनन्द पहुँचाया। सब स्वकर्म सूत्र में बँध कर विवश हो कर कर्म करते रहते हैं।"

पार्वतीजी ने कहा—"अरे भैया! फिर भी तो शाप तो शाप ही है, वरदान-वरदान ही है। तुम्हें मेरे शाप से तनिक भी दुःख नहीं हुआ क्या?"

गंभीर होकर चित्रकेतु ने कहा—"माताजी! दुख वाली तो कोई बात मुझे दीखती नहीं। यह संसार रूप एक सरिता है। उसमें सत्व, रज और तम ये तीनों गुण ही प्रवाह हैं? प्रवाह में कभी काँटा भी आ गया, कभी फूल बह आये कभी फल ही पड़ कर थिरकने लगे। इसी प्रकार शाप, अनुग्रह, स्वर्ग नरक, बन्ध, मोक्ष तथा सुख-दुख ये तो सब आते ही जाते रहते हैं। ज्ञानी पुरुष इनमें समभाव रखते हैं। वे इनमें ममत्व नहीं करते। इनके परिणाम से क्षोभ को प्राप्त नहीं होते।"

पार्वतीजी ने कहा—"भगवान् तो सदा सर्वदा सत्स्वरूप,

चैतन्य स्वरूप तथा आनन्द स्वरूप हैं। उनमे गुण प्रवाह कहाँ से आ गया ?"

चित्रकेतु ने कहा—"माताजी! भगवान् कुछ गुणो के अधीन थोड़े ही हैं। भगवान् अपनी बनी-ठनी क्षण-क्षणमें रूप रंग बदलने वाली माया देवी के द्वारा इन सम्पूर्ण भूतों की तथा उनके बन्ध, मोक्ष और सुख-दुःख की रचना करते हैं।"

पार्वतीजी ने पूछा—"तो क्या वे स्वयं फिर अपनी ही माया के चक्कर मे फँस जाते हैं ?"

दृढ़ता के स्वर में चित्रकेतु ने कहा—"नहीं माताजी! उन्हे चक्कर-फक्कर से क्या प्रयाजन ? वे स्वयं तो इन बन्ध, मोक्ष, सुख-दुख, आदि द्वन्दों से सदा सर्वदा पृथक् ही बने रहते हैं।"

हँस कर पार्वतीजी ने कहा—"तब, भैया जीवों में जो यह विषमता दिखाई देती है यह क्यो है ? इससे तो भगवान् का पक्षपात सिद्ध होता है, कोई सुख भोग रहा है, कोई दुख की दावाग्नि मे जल रहा है, कोई रो रहा है कोई हँस रहा है, इसका क्या कारण है ?"

इसपर चित्रकेतु ने कहा—"जगज्जननी! आप सब जानती हैं, आप ही तो सब को मूल कारण हैं। भगवान् में विषमता दोष नहीं है। वे तो सर्वथा निर्दोष हैं वे सर्वत्र समान भाव से व्याप्त हैं। उनका न कोई प्रिय है न अप्रिय। उनका न कोई अपना है न पराया, न कोई जाति वाला है, न परिवार वाला। वे रागद्वेप से रहित हैं, द्वंदातीत हैं, निर्द्वंद रह कर सर्वदा सुख स्वरूप से अवस्थित रहते हैं। इन संसारी सुखों में न उन्हें राग है न द्वेप। जब एक वस्तु मे राग होता है, तभी दूसरी से घृणा होती है राग से आसक्ति बढती है आसक्ति से ही क्रोध होता है।

यह सब उनमें कुछ नहीं हैं। ये जो सब जीव माया के कारण अपने में पाप पुण्य का आरोप कर लेता है, इसीलिए अपने को सुखी-दुखी अनुभव कहने लगता है। इसमें मेरा हित है इसमें अहित है, इसे करने से दुःख होगा, न करने से सुख होगा, यह बन्धन है, यह मोक्ष है, यह जन्म है या मरण है। इस प्रकार द्वंद्व कल्पना ही संसार को चलाने में कारण है। ये ही संसृतिके हेतु हैं।

पार्वती जी ने हँसकर कहा—"तुम तो भैया! बड़े ज्ञानी हो प्रतीत होता है तुमने तो भगवान् की माया को जीत लिया है फिर तुम मेरे सामने अब दीनता क्यों दिखा रहे हो, मुझसे क्या चाहते हो?"

दृढ़ता के स्वर में चित्रकेतु ने कहा—"माताजी! आप कुछ अन्यथा न समझें। मुझे शापकी तनिकभी चिन्ता नहीं इस बहते हुए संसार प्रवाह में क्या शाप क्या वरदान, ये तो बच्चों की बातें हैं। हे देवि! मैं जो आपके सम्मुख विनय कर रहा हूँ, यह किसी भय से नहीं। मैं शाप से मुक्त होने के लिए आपकी प्रार्थना नहीं कर रहा हूँ। मेरी विनय शाप को हटाने के लिये नहीं है। एक नहीं ऐसे सहस्रों शाप मुझे मिल जायँ, तो भी मैं विचलित नहीं होने का। आसुरी योनि क्या कोई बुरी है। असुरों में क्या भगवद्भक्त नहीं हुए हैं? योनि तो आवरण मात्र है। हृदय में भगवान् की भक्ति हो कोई योनि प्राप्त हो जाय। मैं विनय इसलिए कर रहा हूँ, कि मेरी सत्य बात भी आपको बुरी लगी। मैंने तो एक शिष्टाचार के नाते अपनी बुद्धि से सत्य बात कही थी। आपको इससे दुख हुआ, तो उसी अविनय के लिये क्षमा माँग रहा हूँ। मेरा कथन आपको अनुचित प्रतीत हुआ उसके लिये आप मुझे क्षमा कर दें। शाप का तो मुझे लेश-मात्र भी भय नहीं।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार कहकर चित्रकेतु ने भगवान् शंकर और पार्वती के पादपद्मों में प्रणाम किया और उनके उत्तर के बिना प्रतीक्षा किये अपने विमान में बैठकर चला गया। उसकी ऐसी निःस्पृहता और समता को देखकर सभा में जितने भी सभापद बैठे थे, सबके सब चकित रह गये। सभी अपने मनमें सोचने लगे—"देखो, इस विद्याधर की कैसी सुदृढ़ निष्ठा है। इसकी बुद्धि समत्व में स्थित हो गई है। प्रतीत होता है यह भगवान् संकर्षण की उपासना के प्रभाव से इस दुस्तर माया को तर गया है। प्रतीत होता है यह माया मोह रूप अगाध सागर के परली पार पहुँच गया है। तभी तो इतने बड़े शाप की बात सुनकर भी इसका मुख म्लान नहीं हुआ भ्रकुटियों में रंचक मात्र भी वक्रता नहीं आई।"

भगवती पार्वतीजी भी चकित हो गईं। उनके लिये यह एक रहस्यमय आश्चर्य की बात हुई। वे शिवजी के श्रीमुख की ओर रहस्यमय। दृष्टि से देखती की देखती ही रह गई। सर्वान्तर्यामी शिव उनके मनोभावों को समझ गये और हँसते हुए उनके सामने भगवद्भक्तों के महत्व का बखान करने लगे।

छप्पय

शाप अन्यथा करहु विनय यहि हेतु करौं नहि।
होहि भोग को नाशभाग्यवश दुःख आदि सहि॥
अविनय मेरी समुझि मातु तुम कुपित भई अति।
तातें विनती करी और कछु तुम समुझो मति॥
सती शम्भु पद वन्दि कें, चित्रकेतु पुनि चलि दये।
सती सभा सद सभा के, समता लखि विस्मित भये॥

———

शिवजी द्वारा भगवद्भक्तों का महत्व

(४३५)

दृष्टवत्यसि सुश्रोणि हरेरद्भुतकर्मणः ।
माहात्म्यं भृत्यभृत्यानां निस्पृहाणां महात्मनाम् ।
नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति ।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० १७ अ० २७, २८ श्लो०)

छप्पय

हरि हँसि बोले—'शिवा ! लखी महिमा भक्तनिकी ।
सदा एक मति रहे स्वर्ग नरकनि महँ इनकी ॥
जो हैं भगवद्भक्त कहो तिनकूँ काको भय ।
तीनि काल महँ सदा निहारें जगकूँ प्रभुमय ॥
देइ न सुख दुख दूसरो, भ्रमवश नरपशु कहत हैं ।
माया के वश जीव ने, करे करम सो सहत हैं ॥

जिसे एक देश का राज्य प्राप्त हो गया है, जो सम्राट् बन गया है, वह चाहे रत्नजटित सिंहासन पर बैठे या अपने राज्य

---

* चित्रकेतु की निस्पृहता देखकर पार्वतीजी को सुनाते हुए शिवजी कह रहे हैं—"सुश्रोणि ! तुमने अद्भुतकर्मा श्रीहरि के दासानुदासों का माहात्म्य देख लिया न ? देखो, ये महात्मा कितने निस्पृह होते हैं । बात यह है कि जो नारायण परायण हैं वे सबके सब निर्भय होते हैं, उन्हें किसी बात का भय नहीं । क्योंकि वे स्वर्ग, नरक, मोक्ष सभी को समान भाव से देखते हैं ।"

की नदी की बालू मे बैठे सर्वत्र सम्राट ही हैं। कहीं भी उसे दुःख नहीं। अपने राज्य के किसी भी स्थान मे रहने से उसका अपमान नहीं, तिरस्कार नहीं। उसके लिये अपने राज्य मे सर्वत्र समभाव है। अपने राज्य में जो बुद्धि राजा की है वही राजपुत्र की है वह भी राज्य का अधिकारी है। राज्य की प्रत्येक वस्तु को वह अपनी मानता है। उसके राज्य मे सुवर्ण-खानि है उन्हे भी अपनी कहता है, कोयले की खानि है उनमें भी उसका उतना ही ममत्व है अपनी वस्तु छोटी हो बडी हो, अच्छी हो बुरी हो अपनी ही है। इसी प्रकार भगवद्भक्त इस जगत को अपने स्वामी श्रीहरि की लीलास्थली मानते है। उनका निश्चय है, हमारे स्वामी की इच्छा के विरुद्ध किसी वस्तु का अस्तित्व रह ही नहीं सकता। सबके पति वे हमारे स्वामी ही है। हम उनके एकमात्र उत्तराधिकारी हैं। प्रधान दायभाक् हैं। हमारे स्वामी की जो वस्तु हैं वे हमारी ही है। हमारे स्वामी हमे जहाँ रखें वही आनन्द है। वही हमारा घर है, यदि हम अपने स्वामी को न भूले तो। यदि स्वामी को भूलकर अपने को ही सब कुछ समझकर निजत्व परत्व का भेदभाव स्थापित कर लें, तो हमे दुःख-सुख का भागी बनना पडेगा।

श्री शुकदेवजी कहते है—"राजन्! जब विद्याधराधिपति चित्रकेतु ने शाप की बात सुनकर भी पार्वतीजी के प्रति क्रोध न किया। उलटी उनसे क्षमायाचना ही की और बिना शाप मुक्ति की प्रार्थना किये हुए श्रद्धापूर्वक प्रणाम करके हँसता हुआ चला गया, तब तो पार्वतीजी विस्मित हुईं उन्हें विस्मयाविष्ट देख-कर हँसते हुए भगवान् भोलेनाथ उनसे कहने लगे—"पार्वती-जी! देखा तुमने भगवद्भक्तों का माहात्म्य? आई कुछ समझ मे बात? अब तुम्हारा क्रोध शान्त हुआ?"

कुछ लज्जित सी होती हुई हिमाचल कुमारी बोली—"क्या बताऊँ महाराज ! आप ईश्वरों की लीला कुछ समझ में नहीं आती—मैंने तो समझा यह बड़ा अभिमानी है यह तो कोई बड़ा भक्त निकला । महाराज, यह किस देवता का भक्त है ?

शङ्करजी बोले—"देवि ! वैसे तो यह भगवान् के ही भक्त है, किन्तु भगवान् से भी अधिक यह भगवान् के भक्तों का भक्त है । दासों का अनुदास है । नारद जी और अंगिरा मुनि का यह चरणसेवक है । जिन्हें भगवद् भक्ति प्राप्त हो चुकी है, उन्हें संसारी किसी भी वस्तु की स्पृहा नहीं रह जाती । वे सर्वथा निःस्पृह हो जाते हैं । उनके लिये स्वर्ग, नरक, सब समान हैं । वे संसार में किसी भी दुःख से किसी व्यक्ति से डरते नहीं यहाँ तक कि भगवान को भी वे खरी खोटी सुनाने को प्रस्तुत हो जाते हैं । भगवान् भी जब मुक्ति लेकर उनके समीप जाते हैं, तो निर्भीक होकर कह देते हैं । हमें मुक्ति नहीं चाहिये । हमें यदि बंधन से मुक्ति अच्छी लगती हो, हमारी मुक्ति और बंधन में कुछ भेद बुद्धि हो,तब तो बंधन को छोड़कर मुक्ति को ग्रहण करें भी हमारे लिये तो दोनों समान हैं । जन्म होता है होता रहे । नरक जाना पड़े चले जायँगे भगवान उन्हें बलपूर्वक मुक्ति देते हैं, किन्तु वे उसे ग्रहण नहीं करते । भगवद्भक्तों से वे सदा डरते रहते हैं ऐसा न हो कि कहीं भक्तों का अपराध हो जाय, वे विष्णु भृत्यों के सदा भृत्य बने रहते हैं । देखो, तुमने कुपित होकर इन राजर्षि चित्रकेतु को शाप दे दिया । वे सामर्थ्यवान थे चाहते तो उलट कर वे तुम्हें भी शाप दे सकते थे । किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया उलटी तुम्हारी अनुनय विनय की । क्योंकि मैं वैष्णव हूँ और तुम मेरी सहधर्मिणी हो । दूसरों के दोष देखना तो दूर की बात है, भक्त मन से भी किसी के दोषों का चिंतन नहीं करता । वह

भूल में भी ऐसा काम नहीं करता, जिससे भगवद्भक्तो को सङ्कोच हो। उनके दोषों को प्रत्यत्त देख लेने पर भी नहीं कहता उलटा उनका समर्थन करता है।"

इसपर शौनकजीने पूछा—"सूतजी ! यह बात तो कुछ हमारी समझमे आई नहीं। जो दोष जिनमे नहीं उनका ईर्ष्यावश आरोप करके उनकी निंदा करना यह तो महापाप है किन्तु जो दोष जिसमें प्रत्यक्ष है उन्हें कह देने में तो हम कोई दोष समझते नहीं आप कहते हैं, पापीके पापों को न कहकर भक्त लोग उलटे उनका समर्थन करते हैं यह तो बुद्धि के परे की बात है तब नो सब लोग खुलकर पाप करेंगे। पापीके पाप की भली-भाँति आलोचना होनी चाहिये जिससे समाज में दुराचार न फैलने पावे। समाज का सुधार हो सदाचार का प्रचार हो।"

इस पर सूतजीने कहा—"भगवन् ! सबके अधिकार पृथक्-पृथक् हैं। सभी सब के कामों को करने लगें तो समाज में संकरता छा जायगी। राजा प्रजा के दोष देख सकता है उसे दंड दे सकता है। शासक को प्रजा का शासन करने का, उसके अपराधों का दंड देने का अधिकार है। आचार्य शिष्यों के दोषो को देखकर धर्मानुसार उन्हे सचेत कर सकता है। समझा-बुझा सकता है। पिता पुत्र के दोषों को देखकर ताडन कर सकता है। हम सर्व साधारण लोग दूसरो के दोषों को कहते फिरें उनके पापो को प्रकट करते फिरें, समाज में उनकी बुराई करते रहें तो हमें क्या लाभ होगा जिसे जो बुरी टेब पड गई है, वह उसे निन्दा की भय से छिपकर करेगा, मानेगा तो है नहीं। उल्टे निन्दा करने से उसके संस्कार हमारे में आवेगे, उसके पापो का चिंतन करते रहने से हमारे भावों मे भी उन पापों के परमाणु प्रवेश करेंगे। भक्त अपने को समाज

एक नहीं मानता। वह तो सोचता है मैं पहिले अपने को ही सुधार लूँ यही बहुत है। यदि सभी यही सोचकर अपने-अपने सुधार में लग जायँ, तो समाज का सुधार स्वतः ही हो जाय। लोग अपने को तो सुधारते नहीं, दूसरों का सुधार करने दौड़ते हैं। लोग अपने हृदय पर हाथ रख कर देखें, क्या उन्होंने अपने मन को वश में कर लिया है। क्या वे कभी भूलकर भी वासना के वशीभूत होकर सदाचार के विरुद्ध कभी कोई काम नहीं करते? यदि यह बात नहीं है, तो फिर दूसरों की निन्दा करने से लाभ ही क्या? हम प्रत्यक्ष अपने जीवन में अनुभव करते हैं। हम जानते हैं पर स्त्री पर दृष्टि डालना घोर पाप है। शक्ति भर हम बचते भी हैं, किन्तु कभी ऐसा अकस्मात् संयोग हो जाता है, इच्छा न होने पर भी हमारा मन चञ्चल हो जाता है। जब हम अपने मन पर ही अधिकार नहीं कर सकते। उसे ही कुपथ पर जाने से नहीं रोक सकते तो दूसरों से कैसे आशा रखें। सभी निंदा से डरते हैं, किन्तु वासनाओं के वशीभूत होकर न करने योग्य कामों को कर जाते हैं भक्त उनकी निंदा करना उचित नहीं समझते। समर्थन इसलिये कर देते हैं, कि भक्त को संकोच न हो। वह हमसे भयभीत न हो। इस विषय में मैं आपको एक परम वैष्णव भक्त का सुन्दर सा मनोहर दृष्टान्त सुनाता हूँ।

एक वैष्णव आचार्य थे। उनके समीप उनके शरणापन्न और भी बहुत से भगवद् भक्त थे। बहुत से उन्हीं से दीक्षित थे। उनमें एक बड़े साधुसेवी परमनिष्ठावान् संत थे। गुरुदेव ने उन्हें नित्य ही भगवान् की सेवा के लिये पुण्यतोया कावेरी से जल लाने की सेवा सौंपी थी। वे उस कैङ्कर्य को बड़ी श्रद्धा भक्ति से करते और सभी संतो में ईश्वर बुद्धि रखते थे।

ये न कभी किसी वैष्णव की निन्दा करते, न उनके दोषों को ही देखने का यत्न करते। यही समझते कि ये सब हमारे स्वामी के ही अनुरूप स्वरूप हैं।

एक बार वे भगवती कावेरी से जल का घडा लेकर आ रहे थे। मार्ग मे उन्होंने देखा कि अपने ही यहाँ के एक वैष्णव बिना जल लिये हुए लघुशंका कर रहे हैं। वैष्णवों के लिये बिना जल लेकर लघुशंका को जाना एक शौच सम्बन्धी बडा दोष है। शास्त्रीय नियम तो ऐसा है जितनी बार शौच या लघुशंका जाय, उतनी ही बार स्नान भी करे किन्तु स्नान भी कई प्रकार के हैं भस्म स्नान, मत्र स्नान, पच स्नान, वस्त्र स्नान, प्रत्येक समय सम्पूर्ण शरीर से स्नान करना तो कठिन है, अतः लघुशका को जाय तो जल लेकर जाय, आकर तीन बार हाथ धोवे पात्रको मले, हाथ पैर मुख को धोवे तीन कुल्ला करे यही पच स्नान हो जाता है तब शुद्धि होती है। वे वैष्णव लघुशका के लिये जल भी नहीं लिये थे अत. उन्हे बडी लज्जा लगी। शका भी हुई कि ये सत जाकर आचार्य चरणों मे जाकर मेरे अपराध का निवेदन कर देंगे। इसलिये वे कुछ भयभीत से हो गये।

वे सत इनके भाव को ताड गये। उन्हें बडा मानसिक दुःख हुआ, कि एक सत को मेरे कारण व्यर्थ ही लज्जित और सकुचित होना पडा। कैसे इसका सकोच दूर हो ?" यह सोचकर वे सिरपर घडा रखे ही रखे वहाँ खडे होकर लघुशका करने लगे।"

यह देखकर उन वैष्णव को बडा सन्तोष हुआ कि हम इनसे तो अच्छे ही हैं। ये तो हमसे भी गये बीते हैं। भगवान् के लिये जल ले जा रहे हैं और खडे-खडे मूँत रहे हैं। हम

कोई वैष्णवता है।" यह सोच कर वे प्रसन्न होते हुए चले गये।

इधर ये संत फिर कावेरीजी में लौट आये। आकर सचैल स्नान किया। घड़े को मला फिर जल लेकर चले। वे वैष्णव तो जैसे थे वैसे ही थे, उन्होंने अपने स्वभावनुसार यह बात जाकर आचार्य चरणों में निवेदन कर दी—"महाराज, अपने उन संत को कैसा अनुचित कैंकर्य सौंप दिया है। मैंने अपनी आँखों से देखा, वे तो भगवान् के घड़े को सिर पर रखकर खड़े-खड़े लघुशंका कर रहे थे।"

आचार्य को बड़ा आश्चर्य हुआ वे संत तो ऐसा कर नहीं सकते। इसी बात को वे बार-बार सोचने लगे। बहुत सोचकर आचार्य ने उन्हें सबके सम्मुख बुलाया और बोले—"क्यों भाई ये वैष्णव कह रहे हैं कि तुम भगवान् का सेवाजल लेकर आ रहे थे और उसे सिर पर रखकर खड़े-खड़े ही लघुशंका कर दी थी। क्या यह बात ठीक है ?"

हाथ जोड़ सबके सम्मुख नम्रतापूर्वक लज्जित होकर संतने कहा—"हा भगवान् ! यह बात सत्यही है मैंने ऐसा किया था। वैष्णव असत्य भाषण थोड़े ही करेंगे।"

आचार्य ने आश्चर्य चकित होकर पूछा—"तुमने ऐसा भैया ! सदाचार विरुद्ध आचरण क्यों किया ?"

नीचा सिर करके आखों में आँसू भरके संत बोले—"प्रभो ! मैं तो पशु ही हूँ। पशु जो अनुचित करता है, उसके अपराध की ओर स्वामी ध्यान नहीं देते। पशु को शौच-अशौच का विवेक ही नहीं रहता। भगवान् के दिव्य देश के हाथी पर भगवान् के अभिषेक के लिये नित्य जल आता है। जल लेकर हाथी आता है तो रास्ते में लघुशंका दीर्घशंका भी करता

आता है। पशु होने से उसके इस अशोच की ओर कोई ध्यान नहीं देते। म भी तो एक दो पैर वाला नरपशु ही हूँ। मेरा अपराध करने का स्वभाव है आप गुरुजनों का स्वभाव क्षमा करने का है मेरे अपराध को क्षमा करें।

सूतजी कहते हैं—" मुनियो! इसी का नाम साधुता है। पिशुन और अपकारी के भी दोष को प्रकट न करके अपने ही दोषोंको सदा देखता रहे यही वैष्णवता के लक्षण हैं। कभी अपनी विद्या प्रभुता तथा भक्ति का अभिमान न करे। यही सोचे मैं सबका दास हूँ। देखिये, राजर्षि चित्रकेतु को तनिकसा मदने स्पर्श कर लिया था, इसीलिये लोकगुरु शिवजी का लक्ष्य करके सत्य होने पर भी न कहने योग्य वचन कह दिये। शिवजी तो उनके भाव को समझ ही गये, इसीलिये हँसकर टाल गये किन्तु स्त्री स्वभाववश माताजी सहन न कर सकीं क्रोध में भरकर उसे शाप दे ही डाला। हे महाभागवत राजर्षि चित्रकेतु भगवती भवानी को शाप के बदले में शाप देने को सर्वथा समर्थ और शक्तिशाली थे, किन्तु उन्होंने ऐसा न करके उस शाप को सहर्ष सिर से स्वीकार किया और साथ ही शैल सुता की विनती चिरौरी की क्षमा माँगी। यही साधुता का लक्षण है। साधु अपने कारण किसी को सकोच मे पड़ा नहीं देखते। इस विषय में एक भक्त का दृष्टान्त सुनिये।

एक बड़े ही साधु सेवी सदाचारी सत थे। उन्हें न कोई धूम्रपान आदि का व्यसन था न कोई ससारी इच्छा। उन्हें साधु सेवा का बड़ा व्यसन था। जो भी जैसा भी साधु आजाय उसकी वे भली-भाँति सेवा करते उसे असन्तुष्ट नहीं होने देते एक दिन की बात है साधुओं की पक्ति हो रही थी, उसमें एक भगेड़ी साधु भी बैठे थे।

भाँग के नशा में वे अधिक प्रसाद पाते थे। प्रसाद पाने से पूर्व अपने भंग के घोटने से घोटकर एक लोटा भाँग चढ़ा जाते थे उसी के नशे मे खाते जाते थे। उन्होंने देखा परोसने वाला सब को परिमाण के अनुसार परोस रहे हैं। तब तो उन्होंने दो पत्तलें पृथक-पृथक रख लीं। परोसने वाले संतने इनके सामने की पत्तल पर परोस दिया किन्तु दूसरी पत्तल पर नहीं परोसा। उन भंगेड़ी संत ने कहा—"इस पर भी परोसो।"

उन्होंने पूछा—"यह किनकी पत्तल है ?"

भंगेड़ी संत बोले—"ये मेरे भंग के सोंटे की पत्तल है। यह मुझसे भी अधिक खाता है।

परसने वाले संत को कुछ बुरा लगा उन्होंने कहा—संतों की पंक्तियों में संतों की ही पत्तलें परसी जाती हैं। सोटे लगोटे की पत्तलें नहीं होतीं।" यह कह वे आगे परसते हुए चले गये।

जब वे आश्रम के अधिपति संत आये तो उन्हे देखकर भाँग के नशे में उन भंगेड़ी सन्त ने जूठी पत्तल उनके मुँह में उठाकर दे मारी और कहा—"ऐसी ही तुम साधु सेवा करते हो ? मुझे प्रसाद देते हो और मेरे सोंटे को भूखा रखते हो ?"

इतने पर भी सन्त ने हाथ जोड़कर उनके फेंके हुए प्रसाद को बीन-बीनकर अपने वस्त्र मे रख लिया और बड़े स्नेह से बोले— "आज मेरा अहोभाग्य जो सन्तों ने कृपा करके मुझे अपनी सोथ प्रसादी प्रदान की।" जब उन्होंने वह सोटे वाली बात सुनी, तो परसने वाले को बुलाया उन्हे शिक्षा दी उन सन्त से क्षमा याचना कराई और उन्हे परसने के काम से पृथक कर दिया। यही साधुता का आदर्श है। अब एक सन्त भूल करता रहा है तो हम भी उसके प्रत्युत्तर में क्रोध करके दूसरी भूल क्यों करें। अच्छा उसी की बात बड़ी सही कालांतर में उसे अपनी

भूल प्रतीत हो जायगी। हमारे क्रोध का उतना प्रभाव न पड़ेगा, जितना साधुता का। सुनते हैं पीछे भाँग का नशा उतरने पर उन्हें अपनी भूल मालूम हुई और उन्होंने भाँग पीनी छोड़ दी।

ऐसी ही एक घटना और हुई। एक बार किसी महोत्सव पर सन्तों का भंडारा था। दूर-दूर से बहुत से सत पधारे हुए थे। सब फूँस की झोपड़ियों में अपने-अपने आसन लगाये हुए थे। महन्त जी सब के दर्शनों को गये। एक बुड्ढे से सत थे उन्हें धूम्रपान करने का व्यसन था। ज्यों ही वे सुन्दर चिलम भरकर लाये, दो चार मिठास के साथ घूँट मारे त्यों ही उन्हें महन्तजी आते हुए दिखाई दिये। उन्होंने झट हुक्के को छिपा दिया, यह बात महन्त जी ने देख ली। वे शीघ्रता से उन सन्त के निकट आये। इधर उधर की एक दो बातें करके वे पेट पकड़ कर कहने लगे—"पेट में बड़ा दर्द हो रहा है क्या करें।" यह कह कर वे पीड़ा का सा अनुभव करते हुए उन्हीं बूढ़े सन्त के आसन पर बैठ गये और बोले दो घूँट हुक्का के कहीं मिल जाते, तो मेरा दर्द सान्त हो जाता। उनके शिष्य तो आश्चर्य चकित हो गये। महाराज कभी तमाल पत्र का स्पर्श तक नहीं करते आज धूम्र-पान की इच्छा क्यों कर रहे हैं।" उसी बीच उस वृद्ध ने सोचा—"अरे, ये भी धूम्रपान के व्यसनी हैं, तब तो कोई हानि नहीं। झट से उन्होंने छिपे हुए हुक्के को निकालकर दे दिया। महाराज अभी भरकर लाया हूँ

महन्त जी प्रसन्न होकर बोले—"अच्छा,-अच्छा लाइये।" यह कहकर उसमें उलटी-पुलटी दो फूँके मारी और मार कर बोले—"अब लीजिए, आप पीवें। वे सन्त पीने लगे महन्तजी चले गये।

सुनते हैं पीछे जब उन्हें महन्तजी की साधुता का ज्ञान हुआ और पता चला कि यह सब अभिनय सन्त के चित्त को

दुःख न हो इसलिये था तो उन्होंने उनकी सरलता और साधुता से प्रभावित होकर धूम्रपान करना छोड़ दिया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! क्षमा का, सहन शीलता का दण्ड से अधिक प्रभाव पड़ता है। यदि चित्रकेतु भी भगवती पार्वती को कुपित देखकर कोप करने लगते और शाप के बदले में शाप दे डालते, तो नैतिक दृष्टि से तो चाहे यह ठीक कहा भी जा सकता, किन्तु साधुता के यह विरुद्ध पड़ता। समर्थ हो कर भी सहन कर लेना यही साधुता का, सर्वश्रेष्ठ लक्षण है। इसी बात को समझाते हुए शिव जी पार्वती जी से कह रहे हैं—"देवि ! इससे तुम शिक्षा ग्रहण करो। भक्तों के महत्व को समझो भगवन् परायण पुरुषों के लिये शाप अनुग्रह, स्वर्ग नरक दुःख-सुख समान ही है।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! शिवजी इतना ही कह कर चुप नहीं हुए वे विष्णु भक्तों का और भी महात्म्य कहने लगे। उसे भी मैं आप को आगे सुनाऊँगा आप सावधानी के साथ श्रवण करें।

छप्पय

भक्तनि के जो दास दोष देखें नहिं जनके।
अनुचित यदि कछु करें कर्म निंदें नहिं उनके॥
ऋषि मुनि सुर नर चरन कमल पूजें नित जिनके।
मेरे हू जो इष्ट नृपति अनुगत हैं तिनके॥
गत विस्मय ह्वै नृप गये, घोर शाप दीयो इन्हें।
जे अच्युत प्रिय भक्त हैं, नहीं अशक्य कछू तिन्हें॥

———

वृत्र चरित्र की समाप्ति

जज्ञे त्वष्टुर्दक्षिणाग्नौ दानवीं योनिमाश्रितः।
वृत्र इत्यभिविख्यातो ज्ञानविज्ञानसंयुतः ॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
वृत्रस्यासुरजातेश्च कारणं भगवन्मतेः ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १७ अ० ३८, ३९ श्लो०)

छप्पय

यो महिमा गिरिजेश विष्णु भक्तनि की गाई।
सुनि अति सहमी शिवा चित्तमहँ समता आई ॥
बोले शुक अभिमन्यु तनय तनई त्वष्टा मुनि।
करयो इन्द्र पै कोप मरण सुत विश्वरूप सुनि ॥
चित्रकेतु वे ई नृपति, असुर योनिकूँ पाइकें।
भये प्रकट दक्षिण अनल, तें मुनि मखमहँ आइकें ॥

साधु सन्त वस्त्र पहिनते हैं, देह को सजाने बजाने के लिए नहीं, केवल शीतोष्ण निवारणार्थ। त्यागी लोग भी भोजन

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वे ही चित्रकेतु त्वष्टा की दक्षिणाग्नि में दानवीयोनि का आश्रय लेकर उत्पन्न हुए। वे ही संसार में ज्ञान विज्ञान से संयुक्त वृत्रासुर इस नाम से विख्यात हुए। इस प्रकार महाराज! आपने जो वृत्र की आसुरी योनि में जन्म लेने

करते हैं, वे भी जल पीते हैं, स्वाद के लिये नहीं केवल क्षुधा पिपासा शान्त करने के निमित्त। अन्न, जल वस्त्र तथा अन्य भी जीवनोपयोगी वस्तुओं को वे इसीलिये ग्रहण करते हैं, कि यह शरीर भली भाँति चलता रहे। वे उनकी सुन्दरता और मृदुता तथा सुस्वादपनेको अत्यधिक महत्व नहीं देते। इसी प्रकार भक्तों का एकमात्र उद्देश्य होता है, भगवत् स्मरण। जिस योनि से भी भगवत् स्मरण हो, वही योनि भक्तों के लिये सर्वश्रेष्ठ है। इन्द्र बन गये, वरुण बन गये, कुबेर बन गये और भक्ति से शून्य ही रह गये, तो वह देवयोनि भी निन्दनीय और हेय है, यदि शूकर कूकर योनि से भी हरिस्मरण हो सके तो वही श्रेष्ठ है। काकभुसुण्डी को गुरु क शापवश ब्राह्मण शरीर त्याग कर मल भक्षण करने वाली पक्षियों मे चांडाल मानी जाने वाली काकयोनि प्राप्त हुई थी। पीछे गुरु कृपा से ही उन्हें यह भी वरदान प्राप्त हो चुका था, कि ये इच्छानुसार जिसका चाहे, रूप रख सकते हैं। इतना होने पर भी उन्होने हेय समझकर काकयोनि को त्यागा नहीं। यही नहीं उससे उन्होंने इसलिए और भी अधिक प्रेम किया कि इसी के द्वारा मुझे भगवत्भक्ति की प्राप्ति हुई है। जटायु पक्षियो मे अधम गृद्ध शरीर मे थे, किन्तु उसी में इसीलिए अत्यधिक हर्षित थे कि इसमें हमें भगवान् की सेवा करने का सुअवसर प्राप्त होता है। भक्तों की दृष्टि मे इस बाह्य शरीर की आकृति का कोई विशेष महत्व नहीं है। मन भगवान् मे लगा रहे, योनि कोई भी मिले सभी सुन्दर है। इसीलिये विद्याधराधिप महाराज चित्रकेतु आसुरी

पर भी भगवद्भक्त होने का कारण पूछा था। वह सब आपसे कह दिया।"

योनि में भी दुखित नहीं हुए। वहाँ भी वे जैसे के तैसे भगवत् भक्त ही बने रहे।

श्री शङ्करजी पार्वतीदेवी से कह रहे हैं—"हे पार्वति! भक्तों की दृष्टि में द्वैत रहता ही नहीं। वे तो सर्वत्र अपने सर्वज्ञ सर्वव्यापक स्वामी को ही देखते हैं। स्वर्ग हो, नरक हो, देवयोनि हो, कीट पतग की योनि हो। प्रयाग हो, मगध हो सर्वत्र उनकी समबुद्धि रहती है। उनकी यह सदा दृढ धारणा रहती है कि कोई किसी को सुख दुख देने में समर्थ नहीं है। न कोई स्वेच्छा से किसी को शाप दे सकता है न अपने आप अनुग्रह करने में ही समर्थ है। ये जो जीवों को सुख-दुख, जन्म मरण, शाप-अनुग्रह आदि द्वन्द्व प्राप्त होते हैं। वे भगवान् की लीला से ही देव तिर्यक आदि देहों के संयोग से ही हुआ करते हैं। आत्मा में तो देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि का भेदभाव है ही नहीं। आत्मा तो सबमें समान रूप से व्याप्त है।

इस पर पार्वतीजी ने पूछा—"प्रभो! जब सभी में आत्म सत्ता समान है तो यह देवता है, पूजनीय है, यह असुर है, अनादरणीय है। ऐसा भेद भ्रम क्यों होता है? क्यों लोग देवताओं को श्रेष्ठ समझते हैं क्यों आसुरी योनि की निन्दा करते हैं।"

इस पर शिवजी ने कहा—"प्रिये! यह तो व्यवहार की बातें हैं। वास्तव में आत्मा में अणुमात्र भी भेदभाव नहीं। जैसे स्वप्न में सुख दुख की प्रतीत भेद भ्रम के कारण ही होती है। अँधेरे में जागने पर भी सम्मुख ठूँठ को देखकर भूत का भ्रम हो जाता है। टेढ़ी-मेढ़ी रस्सी को देखकर सर्प का भ्रम हो जाता है। दूर से काष्ठ की हथिनी को देखकर यथार्थ हथिनी का भ्रम हो जाता है। यह सब अज्ञान के कारण होते हैं। जागने पर ज्ञान हो जाने पर, समीप पहुँचने पर ये

भेदभाव दूर हो जाते हैं। भक्त तो भगवान् के पार्श्ववर्ती ही ठहरे उन्हें यह भ्रम नहीं होता भक्ति को ही प्रधान मानते हैं। जो भगवान् वासुदेव के भक्त हैं, वे निर्बल और भयभीत नहीं होते, वे ज्ञान वैराग्य के बल से सदा सम्पन्न रहते हैं। वे किसी भी योनि में चले जायँ वहीं निर्भय रहते हे। उन्हें इस ससार में भगवान् को छोड़कर अपनी बुद्धि का कोई अन्य आश्रय नहीं दीखता। यदि शूकर योनि में भी भक्ति प्राप्य है, तो वह श्रेष्ठ है। देवयोनि में यदि वह नहीं है, तो वह निकृष्ट है।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! फिर भी श्रेष्ठ योनियों मे श्रेष्ठता तो होती ही है।"

शीघ्रता से सूतजी बोले—"हाँ, महाराज! होती क्यों नहीं, किन्तु वह साधन भजन की सुगमता के ही कारण होती है, इन्द्रियों की बनावट के कारण नहीं। मनुष्य योनि से अधिक साधन भजन, भगवत् चिंतन तथा परमार्थ साधन हो सकते हैं। इसीलिये मनुष्य योनि को सर्वश्रेष्ठ कहा है। यदि यह सुदुर्लभ देह, सुलभता से प्राप्त हो जाय और इसे प्राप्त करके भी इस ससार रूप समुद्र को पार करके प्रभु के पादपद्मों के पास न पहुँचे तो मुनियों ने उसे आत्महा—आत्मा का हनन करने वाला—बताया है। भक्त तो भगवत् प्रेम चाहते हैं वह यदि पशु बनने पर भी प्राप्त हो जाय, तो उन्हे पशु बनना सहर्ष स्वीकार है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस विषय मे मैं आपको एक बहुत ही सुन्दर दृष्टांत सुनाता हूँ। परम पावन काचीपुरी मे एक बड़े ही भगवद्भक्त वैष्णव रहते थे। उन्हें सर्वदा यही चटपटी लगी रहती थी, कि किस प्रकार प्रभु मेरे ऊपर कृपा

करे। कैसे मैं भगवान् का अधिक से अधिक स्नेहभाजन बन सकूँ।

एक दिन वे संत बैठे थे। उन्होंने देखा एक श्रीमान् बड़े विभवशाली रथ मे बैठकर जा रहे हैं। उसके साथ उसकी धर्मपत्नी भी है एक कुत्ता भी उनकी गोद मे बैठा है। वे दोनो पति-पत्नी उस कुत्ते को अत्यधिक प्यार कर रहे हैं। कभी उसे पुचकारते हैं। कभी उसके बदन को थपथपाते हैं। कभी मृदु करो से उसके मुख को दबाते हैं। कभी उसे सुहराते हैं कभी उसके बड़े-बड़े बालों मे कोमल उँगलियाँ डालकर उसे खुजाते हैं। भगवद्भक्त इस लीला को देखकर मन ही मन बड़े प्रसन्न हुए। मुनियों ये हरिभक्त प्रेम के पापी होते हैं। प्रेम जहाँ भी देखते हैं रीझ जाते हैं। जैसे अपने आहार को देखते ही चित्त उसकी ओर स्वाभाविक दौड़ता है। जैसे किसी को धूम्रपान करने का व्यसन है, उसे धूम्रपान की बड़ी प्रबल इच्छा हो रही हैं, तो किसी नीच को धूम्रपान करते देखता है तो उनकी इच्छा होती है, इसी से लेकर मैं पान कर लूँ। प्रेमी जहाँ किसी दूसरे को अपने प्रियतम से प्रेम करते देखते हैं तहाँ उनके मनमें गुद-गुदी होने लगती है, हाय! किसी तरह हमारा भी प्रेमी हमें ऐसे प्यार करने लगे तो बेड़ा पार हो जाय।"

वैष्णव सोचने लगे—"देखो! ये सपत्नीक श्रीमान् अपने कुत्ते से कितना स्नेह रखते हैं। यदि मैं भी कुत्ता हो जाऊँ तो संभव है। श्री लक्ष्मीवरद रमारमण मुझसे भी अपनी प्रिया के सहित प्रसन्न हो जायँ, वे भी मुझे इसी भाँति प्यार करने लगे।"

यह सोचकर वे उस दिन से अपने को कुत्ता ही समझने लगे। कुत्ते की भाँति हाथों को पृथिवी पर टेककर चलते।

वैष्णवों की उच्छिष्ट पत्तलों को कुत्ते की भाँति चाटते। कोई टुकड़ा डाल देता तो कुत्ते की भाँति उसे खाते। नदी में जाकर कुत्ते की भाँति पानी पीते। जहाँ-तहाँ कुत्ते की भाँति मलमूत्र कर देते। कोई मार देता, तो कुत्ते की भाँति-भाँति कांउ-कांउ करके भाग जाते। सारांश ये अपने को सब भाँति कुत्ता ही समझते।" भगवान् उनकी इस निष्ठा से प्रसन्न हुए और उनके ऊपर कृपा की। सो, मुनियो! शरीर तो वही श्रेष्ठ है जिससे भजन हो। भजन न हो और कामदेव के समान सुन्दर मन सब संसारी भोगों से युक्त मनुष्य शरीर को प्राप्त हो जाय तो वह व्यर्थ है। इसी भाव को समझते हुए शिवजी पार्वती जी से कह रहे हैं—"देवी! उन भगवान् की महिमा को उनकी अद्भुत लीलाओं को सब नहीं जान सकते। और लोगों की बात तो जाने दो मैं स्वयं भी उनके महत्व को भली-भाँति नहीं जानता। ब्रह्माजी, सनकादि महर्षि, नारदमुनि, मरीच, अत्रि, अंगिरा आदि ब्रह्माजी के पुत्र तथा अन्य लोकपाल आदि कोई भी प्रधान-प्रधान देवगण उनके यथार्थ स्वरूप को कहने में समर्थ नहीं फिर अन्य लोगों की तो बात ही क्या? संसारी लोग तो मूर्खतावश अपने को सर्वसमर्थ मानते हैं। इन चित्र-केतु में जो इतनी सहनशीलता है, यह भगवान् की अहैतुकी भक्ति के ही कारण है, इसलिये तुम किसी प्रकार का विस्मय मत करो। भगवान् के भक्तों के लिये कोई कार्य दुष्कर नहीं। उनके लिये कुछ भी असंभव नहीं।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन! भगवान् शंकर के मुख से ये बातें सुनकर पार्वतीजी को जो भी कुछ विस्मय हुआ था, वह दूर हो गया। विष्णु भक्तों के इस महान् महात्म्य को सुन-कर वे गत विस्मया बन गईं।"

ये ही राजा चित्रकेतु माता पार्वती के शाप से जब त्वष्टा मुनि ने विश्वरूप के वध से क्रोधित होकर अग्नि में 'इन्द्र का शत्रु बढ़े' इस मंत्र से दक्षिणाग्नि मे हवन किया था, उसी में से ये असुर होकर उत्पन्न हुए थे। उत्पन्न होते ही इन्होंने तीनों लोकों को वृत्र अर्थात् ढक सा लिया था, इसीलिये ये वृत्रासुर के नाम से विख्यात हुए। असुर योनि में होने पर भी इनका ज्ञान-विज्ञान लुप्त नहीं हुआ। ये उसी प्रकार अनन्य अच्युत उपासक परम भगवद्भक्त हुए। राजन्! तुमने जो शंका की थी, कि असुर होकर भी वृत्रासुर इतना भगवद्भक्त क्यों हुआ? इसी के उत्तर में मैंने यह परम शिक्षाप्रद राजर्षि चित्रकेतु का पुण्य-प्रद उपाख्यान कहा, इसे सुनकर आपका विस्मय दूर हो जायगा। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं।

महाराज परीक्षित जी ने परम आश्चर्य के सहित कहा— "भगवन्! यह तो बड़ी ही सुन्दर कथा आपने सुनाई। क्यों न हो भगवान् की भक्ति की महिमा ऐसी ही है। जो भगवत् चरित्रों को श्रद्धा पूर्वक श्रवण करता है, उसके पाप संताप सब दूर हो जाते होंगे।"

इस पर हँसकर श्रीशुकदेवजी बोले—"अजी, राजन्! भगवान् के चरित्रों के सुनने से संसार बन्धन छूट जाय, यह तो निर्विवाद बात है। मैं तो कहता हूँ विष्णु भक्तों के महात्म्यरूप इन महात्मा चित्रकेतु के इस पवित्र इतिहास को जो श्रद्धाभक्ति और एकाग्र चित्त होकर सुनते हैं उनके सब संसारी बन्धन छूट जाते हैं। भगवान् के चरित्रों से भक्तो के चरित्र श्रेष्ठ बताये गये हैं क्योंकि उनमें स्थान-स्थान पर भगवान् की भक्त-वत्सलता, करुणा और अहैतुकी की कृपा का वर्णन होता है। भक्तों के चरित्र और हैं क्या भगवत् परायणता ही तो उनका

प्रधान चरित्र है। सोते-जागते उठते-बैठते भगवद्भक्ति में ही तो निमग्न रहते हैं। भगवान् के अतिरिक्त उनका संसार में और कोई धन है ही नहीं। जो पुरुष प्रातःकाल उठते ही भगवान् का स्मरण करके इस भक्तिवर्धक इतिहास को कहता सुनता या सुनाता है वह अवश्य ही परमपद का अधिकारी बन जाता है। इसमें आप तनिक भी—रत्ती भर की अणुमात्र की संदेह न करें अच्छा! समझे राजन्! इसे भूलियेगा नहीं भला। यह तो मैंने त्वष्टा के वंश का वर्णन करते हुए विश्वरूपजी के जन्म के सम्बन्ध में प्रसंगवश अत्यंत संक्षेप में वृत्रासुर की कथा सुनाई। अब आगे आपकी क्या सुनने की इच्छा है?

छप्पय

जे पवित्र यह चरित वृत्र को सुनें सुनावें।
बड़भागी ते मनुज परमपद निश्चय पावें॥
कहें उत्तरा तनय अदिति के शेष वंश कूँ।
प्रभो सुनावें अवसि कथा के बचे अंश कूँ॥
शुक बोले—सविता वरुण, मित्र विधाता उरुक्रम।
धाता भगके वंश कूँ, कहूँ सुनें ते भजे भ्रम॥

———

अदिति के शेष वंश का वर्णन

(४३७)

पृश्निस्तु पत्नी सवितुः सावित्रीं व्याहृतिं त्रयीम् ।
अग्निहोत्रं पशुं सोम चातुर्मास्यं महामखान् ॥*
(श्री भा० ६ स्क० १८ अ० १ श्लो०)

छप्पय

सविता पत्नी पृश्नि जने तिनि सब यज्ञादिक ।
भगकी पत्नी सिद्धि जने सुत तीनि सुता इक ॥
धाता पत्नी कुहू सिनीवाली राका अरु ।
अनुमति चौथी पत्नि भये सुत सबके सुन्दरु ॥
साय प्रातः दर्श अरु, पूर्ण मास सुत अति विमल ।
क्रिया विधाता की बहू, जने पुरी ष्यादिक अनल ॥

संसार में जितने भी नाम रूप वाले पदार्थ हैं, सबके पृथक्-पृथक् अधिष्ठातृदेव हैं, घर, ग्राम, नगर, दुर्ग, वृक्ष, लता, गुल्म तथा सभी योनि के जीवों के अधिष्ठातृदेव होते हैं। इसे आधिदैविक सृष्टि कहते हैं इस प्रकार संसारमें जड कुछ नहीं है आधिदैव और अध्यात्मक को न मानना केवल देखने वाले पचभूतों

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अदिति के बारह आदित्यों में से पञ्चम सविता थे, इनकी पत्नी का नाम पृश्नि था। उससे उन्होंने सावित्री, व्याहृति, त्रयी, अग्निहोत्र, पशु, सोम, चातुर्मास्य तथा पञ्च महायज्ञ ये सन्तानें पैदा कीं।

को ही सब कुछ मानकर इन्हीं के द्वारा सांसारिक वासनाओं की पूर्ति करते रहना इसीका नाम जड़ता है। हमें इन चर्मचक्षुओंसे जो दीखता है, वह वस्तुओं का आधिभौतिक रूप है। क्योंकि हम चक्षु गोलकों द्वारा ही सबको देखते हैं और चक्षु गोलक आधिभौतिक ही हैं। ये चक्षु गोलक होनेपर भी इनमें सूर्यशक्ति प्रवेश न करे, तथा हमारे नेत्रों को तथा देखने वाली वस्तुओं को प्रकाश प्रदान न करे तो हम वस्तुओं को नेत्र गोलकों के रहने पर भी कुछ नहीं देख सकते। इसीलिये घोर अंधकार में हमें कोई वस्तु दिखाई नहीं देती।

प्रकाश और गोलक का जो अधिष्ठान चक्षु नाम इन्द्रिय है, जो प्रकाश को ग्रहण करके वस्तुओं को प्रकाशित करती है वही उसका आध्यात्म रूप है। पुराणों में जो सृष्टि का वर्णन है वह अध्यात्म और आधिदैविक ही है। आधिभूत का वर्णन प्रायः नहीं के ही बराबर है। इसीलिये पुराणों में भिनगों की भाँति जन्मने मरने वाले जीवों का वर्णन नहीं मिलता। उनका वर्णन करने से लाभ क्या ? जो नित्य हैं। कम से कम कल्पजीवी है, या जो मुक्त हैं मुमुक्षु हैं, उन्हीं का प्रायः वर्णन है। बद्ध जीवों का कहीं उदाहरण के रूप में आ गया, तो दूसरी बात है किन्तु उन का वर्णन करना पुराणों को इष्ट नहीं। बद्ध तो बद्ध हैं ही।

जब श्रीशुकदेवजी ने वृत्रासुर के इतिहास को समाप्त किया तब राजा को मूल कथा का स्मरण हो आया। उन्होंने हाथ जोड़ कर कहा—"ब्रह्मन् ! आप मुझे देवता, ऋषि तथा पितर आदि सबके वंशोंको सुना रहे थे। पहले आपने स्वायम्भुव मनु के प्रियव्रत और उत्तानपाद इन दोनों पुत्रोंके वंश का वर्णन किया। महाराज प्रियव्रत के पुत्र अग्नीन्ध्र हुए उनके नाभि और नाभि के यहाँ भगवान् ऋषभदेवका जन्म हुआ। ऋषभदेव के ही भरतजी

हुये जो जडभरत कहाये। इन सबके आपने मुझसे चरित्र कहा उत्तानपाद के वंश का वर्णन करते हुए आपने महाराज प्राचीनवर्हि के वंश तक का वर्णन किया था। फिर आपने बताया था कि महाराज प्राचीनवर्हि के १० प्रचेता हुए। उन्होंने वार्क्षी नामक कन्यासे विवाह किया। जिनके ब्रह्माजी के पुत्र दक्ष शिवजी के शाप से पुनः पुत्र रूप मे इस मन्वन्तर में हुए। उस समय सब प्रजा क्षीण हो गई थी। इसलिये इन प्रचेताओं के पुत्र दक्ष ने ही सम्पूर्ण सृष्टि को फिर से बढ़ाया। पहिले उन्होंने हर्यश्व और शवलाश्व नामक ग्यारह हजार पुत्र उत्पन्न किये, नारदजी के उपदेश से सबके सब साधु बन गये। तब ब्रह्माजी की आज्ञा से उन्होंने ६० कन्याये उत्पन्न कीं। जिनमे से २७ चन्द्रमा को १० धर्मको दो दो भूत, अंगिरा और कृशाश्व को चार तार्क्ष्यको इस प्रकार ४७ तो इन सबको दी और १३ भगवान् कश्यप को दीं। पहिले आपने ४७ कन्याओं के वंश को संक्षेप में बताया था। तब कश्यप के १३ पत्नियों के वंश का वर्णन करने लगे। उनमे से तिमि, शरमा, सुरभि, ताम्रा, क्रोधवशा, मुनि, इला, सुरसा, अरिष्टा, काष्ठा, और दनु इन ग्यारह की संतानों का वर्णन आपने संक्षेप में किया। फिर आप कश्यप की प्यारी पत्नी अदिति के वंश का वर्णन कर रहे थे। आपने इसी प्रसंग मे बताया था, कि अदिति के १२ पुत्र हुए, जो १२ आदित्य कहलाये। जिनके नाम विवस्वान, अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, शक्र और उरुक्रम थे। उनमें से आपने विवस्वान, अर्यमा, पूषा के वंशों के सम्बन्ध में संक्षेप मे वर्णन करते हुए चौथे आदित्य त्वष्टा के वंश का वर्णन किया था। आपने बताया था कि त्वष्टा मुनि ने असुरों की छोटी बहिन रचना के साथ विवाह किया था उनके पुत्र विश्वरूपजी हुए। उसी 'कथा के

प्रसंग में विश्वरूप का वध और वृत्रासुर की कथा भी छिड गई यह अवान्तर कथा थी। अब आप मुझे, मूल कथा को ही सुनावे विवस्वान्, अर्यमा, पूषा और त्वष्टा के अतिरिक्त सविता आदि ८ आदित्य और शेष हैं। उनके वंश का वर्णन अब आप और करे। अपनी मूल कथा पर आ जायँ।

राजा परीक्षित्‌की ऐसी बाते सुनकर श्रीशुकदेवजी वडे प्रसन्न हुए और बोले—"राजन! तुम धन्य हो। कथा सुनने के सच्चे अधिकारी तुम ही हो। तुम कथा के मूल स्रोत को हाथ से नहीं जाने देते। जड को कस कर पकडे रहते हो शाखा प्रशाखाओ के विस्तार से मूलको भूलते नहीं। मैं ता वृत्रासुर की कथा कहते-कहते भूल गया था, कि आगे क्या कहना है। अब आपने अच्छी याद दिला दी। राजन्! इन बारह आदित्यों से ही तो समस्त दैविक सृष्टि उत्पन्न हुई है। इनके वश का मैं विस्तार से वर्णन करने लगूँ तो कभी समाप्त ही न होगा। अतः मैं कथा प्रसंग को व्यवस्था और क्रम मे रखने के निमित्त इनके वंश का अत्यंत ही संक्षेप मे वर्णन करता हूँ। उसे आप दत्त चित्त होकर श्रवण करे।

हाँ, तो पॉचवे आदित्य सविता हुए। उनकी स्त्री का नाम था पृश्नि। इनके तीन लडकी और पॉच लडके हुए। यह जो सावित्री है जिसे गायत्री भी कहते हैं यह इनकी ही लड़की है। दूसरी व्याहृति है जो गायत्री के साथ लगी रहती है। तीसरी विद्या है, जिससे समस्त कर्मकांड आदि हैं। वेदोंमें पांच प्रकारके यज्ञ बताये गये हैं। एक तो अग्निहोत्र जिसे विवाह हो जाने पर समस्त वर्णाश्रमी द्विजों को करने का विधान है। एक पशु यज्ञ होता है, जिसमें पशु बलि दी जाती है। एक सोमयज्ञ होता है जिसमें सोमलता से सोम निकालकर देवताओं को उसका भाग दिया

जाता है। एक चातुर्मास्य यज्ञ होता है जो वर्षा के चार महीनों मे किया जाता है। एक पंचमहायज्ञ है जो नित्यप्रति प्रत्येक द्विजाति गृहस्थ को करना चाहिये। इन पांचों के अधिष्ठात्री देवता सविता से ही उत्पन्न हुए। यह मैंने अत्यंत संक्षेप में सविता के वंश का वर्णन किया अब छठे आदित्य भग की सन्तानों को सुनिये।

भग देवता की स्त्री का नाम था सिद्धि। उनसे इनके महिमा, विभु और प्रभु ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए और एक कन्या भी उत्पन्न हुई जिसका नाम आशिष है। बड़े लोग जो छोटों को आशिष या आशीर्वाद देते हैं। यह इन्हीं भग की कन्या है। दक्ष यज्ञ मे कुपित हुए वीरभद्र ने इनके नेत्र फोड़ दिये थे इसलिय ये मित्र देवता क नेत्रों से देखते हैं। तब से सबको ये मित्रभाव से निहारते हैं। इससे यह भाव प्रकट हुआ कि जो किसी को अमित्रभाव से देखता हैं, उसके नेत्र देखने योग्य नहीं रहते।

अब सातवें आदित्य धाताकी संतानोंकी भी सुनिये। इनके चार पत्नियाँ थीं, जिनके नाम कुहू, सिनीवाली, राका और अनुमति ये हैं। ये अमावस्या की रात्रि के भेद हैं। इनचारों के एक-एक पुत्र हुआ। कुहू के पुत्र का नाम सायं है। सूर्यास्त के समय जो हवन पूजन किया जाता है वह सायं हवन कहलाता है। इसके अधिष्ठातृदेव ये धाता पुत्र सायं ही हैं। सिनीवाली का पुत्र हुआ दर्श। अमावस्या को जो पितरों के उद्देश्य से यज्ञ किया जाता है उसे दर्शयाग कहते हैं। उसके अधिष्ठातृ देव ये धाता के दूसरे पुत्र हैं। राका नामक पत्नी से प्रातः नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। सुर्योदय के आगे पीछे का जो समय है जिसमें प्रातःकालीन अग्निहोत्र आदि होते हैं उसके अधिष्ठातृ देव ये ही हैं। धाता की चौथी पत्नी अनुमति का पुत्र पूर्णमास हुआ। मास के अंत मे जो

पूर्णिमा के दिन देवताओं के उद्देश्य से याग किया जाता है उस क अधिष्ठातृ देव ये धाता के चौथे पुत्र हैं। अब आठवें विधाता की सतानों को भी सुनिये।

धाता के छोटे भाई विधाता की स्त्री का नाम क्रिया था। उस से पुरीष्य सञ्ज्ञक पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। पूर्वजन्म मे ये पाँचो पवित्र आदि थे। तपस्वी लोग अब भी पचाग्नि तप करते हैं। इन पाँचों अग्नियों के अधिष्ठातृ देव ये ही हैं।

नव में आदित्य हुए वरुण। इनकी पत्नी का नाम था चर्षणी जो भृगु पहिले ब्रह्माजी के पुत्र थे वे किसी कारण विशेष से फिर उत्पन्न हुए अत• वे इनके ही यहाँ पुत्ररूप में प्रकटे। एक पुत्र और भी उत्पन्न हुए जो वडे तपस्वी हुए। उन्होंने इतनी घोर तपस्या की कि तपस्या करते-करते उनके शरीर पर दीमकों ने अपना घर वल्मीक वना ली। उस वल्मीक को हटाकर वे फिर से प्रकट हुए। वल्मीकि से उत्पन्न होने क कारण वे ही वाल्मीक ऋषि कहलाये। ये दो तो इनके शुद्ध पुत्र थे दो मिले-जुले और पुत्र हुए। वात यह थी कि ये अपने छोट भाई मित्र के साथ एक दिन आ रहे थे। दोनों का ही स्वर्गीय ललना ललाम उर्वशी अप्सरा क रूप को देखकर शुभ्र स्खलित हो गया। दोना मे अमोघ वीर्य थे। यह दिव्य वीर्य व्यर्थ न जाय इसलिये उन दोनों ने उसे एक घट म रख दिया। उसी समय वशिष्ठजी का राजा निमि स यज्ञ के सम्बन्ध मे वाद विवाद हो गया। उसम दोनो आर से शापाशापी हो गई। वशिष्ठजी ने कहा—"तेरी देह नष्ट हो जाय।" राजर्षि निमि भी कुछ कम नहीं थे, उन्होंने कहा—"आपकी भी देह नष्ट हो जाय।" अब वशिष्ठजी तो कल्पजीवी ठहरे मर तो सकते नहीं। विना शरीर के पृथिवी पर कैसे रहे। देहरूप आश्रय

तो चाहिये । इसलिये जीव रूप से वे उसी घड़े के वीर्य में प्रविष्ट हुए। ऐसे ही एक दिव्य जीव उसमें और आगये। उनका नाम हुआ अगस्त्य । इस प्रकार वशिष्ठ और अगस्त्य ये दोनों मित्रा वरुण के पुत्र कहलाये । इसलिये ये दोनों मिले जुले साझे के सम्मिलिति अयोनिज पुत्र हुए। घड़े से उत्पन्न होने से दोनों कुम्भज भी कहलाते हैं।

दशवें आदित्य मित्र थे इनकी भार्या का नाम रेवती था। उससे इनके उत्सर्ग, अरिष्ट और पिपल नामक तीन पुत्र हुए। अब ग्यारहवें आदित्य की सन्तानों को सुनिये ।

ग्यारहवें आदित्य शक्र हुए जो देवताओं के राजा होनेसे इन्द्र भी कहलाये । इन्होंने अपना विवाह असुर वंश में किया । इसलिये कि पुलोमा नामक असुर की शची नाम वाली कन्या बड़ी ही सुन्दरी थीं। तीनों लोक में उसके समान सुन्दरी कोई कन्या उस समय नहीं थी । इसकी एक बहिन और थी उसका नाम बाप ने अपने ही नाम पर पुलोमा ही रखा था जिसका विवाह भृगु के साथ हुआ । जिनसे च्यवन ऋषि उत्पन्न हुए। हाँ तो शची का विवाह इन्द्र के साथ हो गया उससे इनके जयंत, ऋषभ और मीढ़ुष नाम तीन पुत्र उत्पन्न हुए एक जयन्ती नामवाली कन्या भी उत्पन्न हुई जिसका विवाह ऋषभ देव जी के साथ हुआ जिनके भरतजी आदि १०० पुत्र उत्पन्न हुए।"

इसपर शौनकजी ने पूछा—सूतजी ! हमने तो सुना है। देवताओं के सन्तानें ही नहीं होतीं । आप कह रहे हैं इन्द्र के तीन लड़के एक लड़की हुई।"

इस पर सूतजी बोले—"भगवन् ! पहिले तो सब के सन्तानें हुआ करती थीं। जब से पार्वतीजी ने इन देवताओं को शाप

दिया तब से इनके सन्तान होनी बंद हो गई। नहीं तो कुबेर के नलकूबर मणिग्रीव ये दो पुत्र थे। वरुण के पुष्कल नामक पुत्र थे। यमराज की कन्या अंग की पत्नी सुनीथा थी। यह तो शाप से सब के सब आधे नपुंसक हो गये। देवता शब्द पुलिङ्ग भी है और स्त्री लिङ्ग भी है।"

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—महाभाग! सूतजी! पार्वतीजी ने इन देवताओं को शाप क्यों दे दिया ?"

सूतजी यह सुनकर कुछ अन्यमनस्क से हो गये और बोले—'भगवन्! क्या करोगे इनसब बातों को सुनकर। ये सब झगडे टंटे की बात हैं। योंहीं समझ लीजिये, इन देवताओं का प्रारब्ध ही ऐसा था। अच्छा ही किया इन सब को भगवती पार्वती ने निस्संतान बना दिया। नहीं ये लोग बडे कामी होते हैं। नित्य ही सन्तानें उत्पन्न करते और इन ऐश्वर्य में मदोन्मत्त हुए कामियो की संतान रात्रि दिन अनर्थ हा करती रहतीं। देखिये! इन्द्र पुत्र जयंत ने ही कैसी अशिष्टता की माता जानकी के ही ऊपर कुदृष्टि डाली। नलकूबर मणिग्रीव की अशिष्टता से दुखी होकर ही नारदजी ने उन्हें वृक्ष बन जाने का शाप दिया। इसलिये इन ऐश्वर्यशाली धनिकों का निस्संतान होना ही ठीक है। हीं भी तो एक दो संतान बहुत हैं।

पार्वतीजी ने शाप क्यों दिया यह कथा है तो बहुत लम्बी किन्तु मैं बहुत संक्षेप में इसे सुनाता हूँ। पार्वतीजी को सन्तान उत्पन्न करने की इच्छा हुई। इसी भावना से वे गर्भधारण कर रही थीं। स्वार्थी देवताओं ने अग्नि को भेजकर बीच ही में गड-बड-सडबड कर दी। भगवती की इच्छा में विघात हुआ इसी से क्रुद्ध होकर उन्होंने शाप दे दिया—"जाओ! तुमने मेरी संतान

की इच्छा का विघात किया है, तुम्हारे भी किसी के संताने न हो बस, तब से ये सबके सब देवता निपूते बन गये। जो पहिले हो गये थे, वे हो गये इसके पीछे गोविन्दाय नमो नमः हो गया।

अब सबसे अंतिम बारहवें आदित्य हुए विष्णु जो इन्द्र से छोटे होने के कारण उपेन्द्र भी कहलाते हैं। स्वर्गसिंहासन के ये भी उप सभापति हैं।"

इसपर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! विष्णु तो सबसे बड़े हैं आप इन्हें इन्द्र से छोटा क्यों बता रहे हैं, ये तो इन्द्र के भी शास्ता हैं ? फिर आप इन्हें स्वर्ग का उपसभापति उपेन्द्र क्यों कहते हैं—

इस पर हँसकर सूतजी बोले—"महाराज, इन विष्णु की माया अपरम्पार है। ये छोटे बनने पर भी बड़े खोटे होत हैं। छोटे बनकर इन्होंने बड़ी तिकड़म भिड़ाई। बिचारे बलिको ऐसा चक्कर में फँसाया कि उसका राज-पाट सब छीन-छान कर पाताल मे भेज दिया। बाँधना तो चाहते थे ये उसे ही किन्तु भोलेपन के कारण स्वयं बँध गये। बालक ही जो ठहरे। सेवक बनाने गये, स्वयं सेवक बन गये। अब हाथ में छड़ी लिये हुए च.ले के द्वार पर पहरा देते रहते हैं। महाराज, यह बड़ी भारी कहानी है। भगवान् ने अदिति देवी को प्रसन्न करने के लिए उनके गर्भ से अवतार लिया था। इन्द्र के छोटे भाई बनकर उन के दुःख को दूर किया। असुरों को छलकर कपट से उनका राज्य छीनकर देवताओं को दे दिया। इन सब बातों को मैं वामन चरित्र में आगे कुछ विस्तार के साथ बताऊँगा। पहिले आप मुझे भगवान् कश्यप की १२ पत्नियों की संतानों का संक्षेप में वर्णन कर लेने दो।"

यह सुनकर शौनक जी बोले—"अच्छी बात है सूतजी!

१० पत्नियों के वंश का वर्णन तो आप कर ही चुके अब एक दिति ही रह गई, सो उसके वंश का वर्णन और कीजिये।"

इस पर सूतजी बोले—"मुनियो! अब मैं दिति के वश का वर्णन करता हूँ, उस दैत्य वश को आप सब सावधान हो कर श्रवण करें।

छप्पय

वरुण चर्षणी माँहिँ भये भृगु मुनि पुनि तिनतें।
सुत वशिष्ठ बाल्मीक अगस्तहु जनमें इनतें॥
मित्र रेवती नारि माँहिँ सुत तीनि भये वर।
इन्द्र शचीतें ऋषभ जने मीढुस जयन्त सुर॥
वामन पत्नी कीर्ति ने, बृहच्छ्लोक शुभ सुत जने।
श्री उपेन्द्र बलि जज्ञ में, छोटे से बौना बने॥

दिति वंश का वर्णन

(४३८)

अथ कश्यपदायादान् दैतेयान् कीर्तयामि ते ।
यत्र भागवतः श्रीमान् प्रह्लादो बलिरेव च ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १८ अ० १० श्लो०)

छप्पय

हिरनकशिपु हिरनाक्ष भये दिति सुत खल भारी ।
हिरनकशिपु की बहू कयाधू अति पति प्यारी ॥
अनुह्लाद सह्लाद ह्लाद प्रह्लाद जने सुत ।
सुता सिंहिका भई जासु सुत भयो विप्रचित ॥
जन्यो पचजेन असुर कूँ, कृति ते सुत सह्लाद ने ।
इल्वल वातापी जने, धमनि पत्नि तैं ह्लाद ने ॥

संसार में जो भी बल, पौरुष, पराक्रम, श्री, तेज, ऐश्वर्य है सब भगवद् दत्त ही हैं। जहाँ भी ये सब दिखाई दें उसे भगवान् की विभूति समझना चाहिए। भगवान् की सात्विकी विभूति आदि देवता आदि हैं, राजसी विभूति ब्रह्मा मनु प्रजा

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! अब मैं महर्षि कश्यप की पत्नी दिति के उदर से उत्पन्न होनेवाले दैत्यों के वंश का वर्णन तुमसे करता हूँ जिस वंश में परम भागवत श्रीमान् प्रह्लादजी तथा महादानी बलिजी उत्पन्न हुए हैं।"

पति आदि हैं और तामसी विभूति रुद्र, असुर, भूत, प्रेत, पिशाच, दैत्य दानव आदि हैं। जब भगवान् को सतोगुण की वृद्धि करनी होती है, तो देवताओं के बल को बढा देते हैं। और तमोगुण की वृद्धि करने की इच्छा होती है, तो असुर राक्षसों के बल को बढा देते हैं। वे देवताओं को मारते है, पीटते हैं स्वर्ग से निकाल देते हैं, इन्द्रासन छीन लेते हैं। भगवान् बैठे बैठे हँसते रहते हैं।"

'असुरों की वृद्धि वे क्यों करते हैं जी, अब इस क्यों का क्या उत्तर? लड्डुओं के साथ मिरच क्यों खाते हैं। खीर के साथ चटपटी चटनी क्यों चाटते हैं। मन प्रसन्न करने के लिए। शतरंज में कभी कभी सैनिक राजा को हरा देता है। काठ का सैनिक काठ के राजा को क्या हरावेगा। खेलने वाले का विनोद है। इसी प्रकार त्रिगुणातीत भगवान् की दृष्टि में न कोई अधम है न कोई उत्तम। सभी उनके खिलौने हैं लीला के लिये विनोद के लिये जय पराजय कराते रहते हैं। जैसे नाटकों में खेल होता है, फिर कुछ नहीं। अत. सृष्टि के लिये जैसे ही सुर आवश्यक हैं वैसे ही असुर आवश्यक हैं। सुरों से पहिले मधुकैटभ असुर ही उत्पन्न हुए। इसलिए ये देवताओं के बडे भाई कहे जाते हैं। जैसा ही फल सुरों के वंश श्रवण का है वैसे ही असुरों के वंश श्रवण करने का भी फल है। पिता दोनों के एक ही हैं। केवल माता के भेद से उनमें पृथक्त्व हो गया। अदिति के आदित्य हुए और दिति के दैत्य कहलाये।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! मैंने तुमसे भगवान कश्यप की १२ पत्नियों के वंश का वर्णन कर दिया अब उनकी तेरहवीं पत्नी दिति के वंश को भी सुन लीजिये।

यह बात हम सूकरावतार के प्रसंग में हिरण्याक्ष वध की कथा में बता ही चुके हैं, कि अपनी अन्य सौतों को संतानवती देखकर दिति को डाह हुआ। वह संध्या समय अग्नि-होम करते समय पुत्र-कामना से सकामा होकर अपने पति भगवान् कश्यप के समीप गई और आग्रहपूर्वक गर्भाधान की प्रार्थना करने लगी। मुनि ने बहुत समझाया, किन्तु भवितव्यता ऐसी ही थी, उसके सिरपर काम भूत सवार था, पतिकी एक भी बात न सुनी। विवश होकर मुनि ने उस दारुण वेलामें गर्भाधान संस्कार किया और कह दिया इससे तेरे दो महाक्रूर आसुरी भाव वाले बड़े पराक्रमी पुत्र होंगे। सर्वज्ञ मुनि का वचन अन्यथा कैसे होता। उस दिति के गर्भ से हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष ये दो आदि दैत्य उत्पन्न हुए। ये दोनों और कोई नहीं थे भगवान् विष्णु के प्रिय पार्षद जय विजय ही सनकादिकों के शाप से असुर होकर उत्पन्न हुए थे। तभी तो ये भगवान् से टक्कर ले सके देवताओं के दाँत खट्टे कर सके। इनकी माता ने अपने पति भगवान् कश्यप से वरदान माँग लिया था, कि मेरे पुत्रों की मृत्यु भगवान् से ही हो इसीलिये भगवान् ने दो अवतार लेकर इन दोनों भाइयों को मारा। सूकरावतार धारण करके तो हिरण्याक्ष को मारा और श्री नृसिंहावतार लेकर हिरण्यकशिपु को पछाड़ा। सूकरावतार की कथा पीछे सुना ही चुका हूँ। नृसिंहावतार की कथा आगे सुनाऊँगा। यहाँ तो इन हिरण्यकशिपु दैत्यों के वंश को सुन लीजिये।

हाँ, तो राजन्! हिरण्यकशिपु ने अपना विवाह जम्भ नामक दानव की पुत्री कयाधू के साथ किया। उससे हिरण्यकशिपु के चार पुत्र हुए, जिनके नाम संह्लाद, अनुह्लाद, ह्लाद और भक्ताग्रगण्य श्री प्रह्लाद जी हैं। एक सिंहिका नाम की कन्या भी हुई। जिसका

निश्चिति नामक दानव के साथ विवाह हुआ। उसी सिंहिका का पुत्र राहु हुआ जिसका सिर भगवान् ने मोहनी रूप से, समुद्र मथन के समय काटा था। इन चारों के अतिरिक्त स्मर, उद्गीथ, परिष्वङ्ग, तङ्ग, पतग, क्षुद्रभृद् और घृणी ये ६ पुत्र और हुए जो प्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तर में मरीचि प्रजापति की ऊर्णानाम वाली स्त्री के पुत्र थे और ब्रह्माजी के शाप से असुर हो गये थे। मुख्य तो चार ही थे। अब उन चारों का वंश सुनो।

हिरण्यकशिपु का सब से बडा पुत्र था संह्लाद उसकी स्त्री का नाम था कृति। उससे उसके पञ्चजन्य नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। यह असुर समुद्र के जल में शख रूप में रहता था। द्वापर के अंत मे भगवान् ने इसे मार कर उस शख को ग्रहण किया, इसीलिये भगवान् के शख का नाम पाञ्चजन्य शख है। वह असुर धन्य है, जिसकी अस्थि के शख का स्पर्श भगवान् श्याममुन्दर के अत्यन्त कोमल अधरों से होता है, जिनके लिये साधिकायें असख्यो वर्ष तपस्या करती रहती है।

हिरण्यकशिपु के दूसरे पुत्र का नाम ह्लाद था। उसकी स्त्री का नाम था धमनी। उस धमनी के गर्भ से दो पुत्र उत्पन्न हुए उनमे से एक का नाम तो इल्वल (आतापी) और दूसरे का नाम था वातापी, इनमें से वातापी को महामुनि अगस्त्य जी खाकर पचागये।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! इतने बडे बली असुर को भगवान् अगस्त्य ब्राह्मण होकर क्यों खा गये और कैसे पचा गये, इस कथा को आप उचित समझें तो हमें सुनावें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाभाग ! यह बडी लम्बी कथा है, किन्तु मैं आप को अत्यन्त संक्षेप मे इसे सुनाता हूँ। आप सब सावधानी के साथ कथा को श्रवण करें।

बात यह थी कि ये दोनो असुर वातापी और इल्वल बडे ही शूरवीर पराक्रमी धनी और ऐश्वर्यशाली थे। उन दिनों ये पृथिवी पर ही रहते थे। पृथिवी के राजाओं मे वे सबसे अधिक धनी समझे जाते थे। परन्तु इन लोगों को एक बडा बुरा व्यसन पड गया था। मास भोजी दैत्य तो थे ही। इन्हें ऋषि मुनियों के मास खाने की लत पड गई। श्राद्ध के अन्न को खा खाकर मोटे हुए ब्राह्मणों का मास इन्हें बहुत प्रिय लगता था। जो क्षीणतेज और अल्पवीर्य मुनि थे, ऐसे बहुत से मुनियों को इन लोगों ने खा डाला। इन्होंने एक युक्ति निकाल रखी थी। इच्छानुसार रूप बनाने की तो इनमें शक्ति थी ही। इसलिये वातापी बड़ा भारी बकरा बन जाता था। इसका भाई इल्वल ब्राह्मण का वेष बनाकर मुनियों के पास जाता और हाथ जोडकर कहता—"मुनियो ! मेरे यहाँ श्राद्ध है, आप भोजन करने मेरे यहाँ पधारें। मैं मास भी खा लेता हूँ अतः श्राद्ध मे मास भी भोजन कराऊँगा। वे ब्राह्मण स्वीकार कर लेते। तब यह मेष बने हुए उस मायावी वातापी के मास को पका कर सब को परोसता। श्राद्ध में निमंत्रण ब्राह्मण उसे खा जाते। तब इल्वल पुकारता—"भैया, वातापी निकल तो आओ बाहर।

इतना सुनते ही वह सब के पेटों को फाड़-फाड कर निकल आता और दोनों मिल कर बडे प्रेम से उन ब्राह्मणों के मास को खा जाते। जो ब्राह्मण कहते कि हम तो फलाहारी हैं मास छूते भी नहीं, उनके लिये कटहल, पेठा, कुम्हडा आदि फल बन जाता। जब वे खा लेते तो पेट में से फाडकर वे बडे-बडे फल निकल

पड़ते। तब दोनों उन्हें खा जाते। ऐसे छिपकर वे श्राद्ध करते कि किसी को पता न चले, बहुत दिनों तक वे इसी प्रकार ब्राह्मणों को मार-मार कर छल से खाने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पाप बहुत दिन छिपा नहीं रहता। मुनियों को यह बात मालूम पड़ गई। वे बड़े घबड़ाये कि इस प्रकार तो ये हम सब का ही उलटा श्राद्ध कर देंगे। ऋषि मंडली में हलचल मच गई। सब ने मिलकर एक सभा की, उसमें निश्चय हुआ कि एक शिष्ट मंडल महर्षि अगस्त्य जी के पास भेजा जाय। वे ही हम सब में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं। वे एक चुल्लू में समस्त सागर के जल को पी गये थे और फिर लघुशंका के द्वार से उसे निकाल दिया, उसी दिन से सागर का जल खारा हो गया। वे चाहें तो इन असुरों को भी दंड दे सकते हैं। साधारण मुनि के वश में ये असुर नहीं आने के।"

जब सर्वसम्मति से निश्चय हो गया, तो एक शिष्ट मंडल मिलकर भगवान् अगस्त्यजी के समीप पहुँचा। दोनों ओर से नमस्कार प्रणाम, शिष्टाचार कुशल प्रश्न हो जाने के अनंतर भगवान् अगस्त्यजी ने पूछा—"मुनियो! आज आप सबने किस कारण मेरे ऊपर कृपा की? आप सब इतने उदास और चिन्तित क्यों हो रहे हैं?"

उन ऋषियों में से जो एक बूढ़े से थे वे हाथ जोड़ कर बोले—"क्या बतावें भगवन्! हम लोग बड़े दुखी हैं, ये जो हिरण्यकशिपु दैत्य के नाती हैं, आतापी और वातापी इन दोनों ने न जाने कितने ब्राह्मणों को खा डाला है। वातापी बकरा बन कर ब्राह्मणों के पेट में चला जाता है, फिर आतापी के पुकारने पर सबका पेट फाड़कर निकल आता है। दोनों उन ब्राह्मणों

को खा जाते हैं। इस प्रकार न जाने कितने ब्राह्मणों को ये दोनों भाई खा गये।"

यह सुनकर उन्हें धैर्य देते हुए अगस्त्य मुनि बोले—"मुनियो एक दिन मेरा भी किसी प्रकार निमंत्रण कराश्रो तो मैं इनकी सब चौकड़ी भुला दूँ।"

ऋषियों ने कहा—"अच्छा, महाराज ! कल ही सही। भगवन्! आप हम सब के शिरोमुकुट हैं आपका कुछ अनिष्ट हुआ, तो हमारा तो समाज ही नष्ट हो जायगा।"

इस पर हँसकर भगवन् अगस्त्य बोले—"मुनियो ! आप डरे नहीं। वे अधम असुर मेरा बाल-बाँका नहीं कर सकते। मेरे चक्कर मे फँस जायँ तो वे बच नहीं सकते।"

ऋषियों ने कहा—"अच्छी बात है महाराज ! आप ध्यान रखे। वह ब्राह्मण का रूप बनकर आवेगा।"

किसी प्रकार ऋषियों ने उनसे कहला दिया कि एक दिन महर्षि अगस्त्य जी का निमंत्रण करें, उनकी भी दृष्टि ऋषि के दर्शनीय शरीर पर लगी थी, अतः दूसरे ही दिन सुन्दर सा बहु-मूल्य पीताम्बर ओढकर तिलक छापे लगाकर मुनि के समीप-पहुँचा। दूर से ही साष्टाङ्ग दन्डवत् झुकाई। मुनि तो समझ गये इस बगुला भगत की यह बिलैया डंडोत है। फिर भी कुछ बोले नहीं। गंभीर बने बैठे रहे, उसने आकर हाथ जोड कर कहा—"भगवन्! कल मेरे यहाँ श्राद्ध है आप सब शिष्यों सहित मेरे यहाँ पधारें।"

मुनि ने गभीर होकर कहा—"भैया, हम तो श्राद्ध का अन्न खाते नहीं। श्राद्धान्न बड़ी कठिनता से पचता है। यदि उसके लिये जप तप न करें, तो ब्राह्मण का नाश करता है। तो भी आप इतनी दूर से आये हैं, तो अच्छी बात है हम आ जायेंगे।"

यह सुनकर आतापी बडा प्रसन्न हुआ और मन में आनदित होता हुआ घर चला गया। दूसरे दिन नियत समय पर वह मुनि के पास आया। मुनि शिष्यों सहित उसके यहाँ पधारे। उसने पहिले सबकी पूजा की और फिर पत्तल परोसने लगा। मुनि ने कहा—'मेरे ये शिष्य तभी भोजन करेंगे, जब पहिले मैं भोजन करलूँ। पहिले मेरा पेट भर दो तब देखा जायगा।"

इसपर आतापी ने कहा—"महाराज! मैं तो मास से श्राद्ध करता हूँ।"

मुनि ने कहा—"अच्छी बात है, जैसा तुम्हारा सदाचार हो। लाओ परसो।"

अब तो वह परसता जाय और मुनि खाते जायँ। पूरे वातापी के मास को खा गये। तब ऋषि ने बडे जोर से एक डकार ली और इतने जोर से अपान वायु छोडी कि सब शिष्य हँसते २ लोट-पोट हो गये। इसी समय आतापी ने पुकारा—"भैया, वातापी। निकल तो आ, मुनि का पेट फाड कर।" किन्तु वातापी अब कहाँ। उसने फिर तीन चार बार पुकारा। तब अपान वायु छोडते छोडते हँसते हुए मुनि बोले—"बच्चा जी! अब गोविन्द के गुन गाओ। अब वातापी की आशा मत रखो। उसे तो मैं खाकर पचा भी गया।"

इतना सुनते ही आतापी मुनि के ऊपर झपटा। तब मुनि ने एक बार हुकार मारी। इसी में वह अचेतन होकर गिर पडा। मुनि अपने शिष्यों के सहित चले गये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् अगस्त्य के पेट में सदा बडवाग्नि प्रज्वलित रहती है। वे जो भी कुछ खायँ तत्क्षण भस्म

हो जाता है। इसलिये जिन्हे अजीर्ण हो भोजन पचता न हो भूख न लगती हो। वे भोजन करके तीन बार पेटपर हाथ फेरे और इस मत्र को तीन बार पढ़ें तो वे जो भी कुछ खायें वही तत्क्षण पच जायगा।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! उस मत्र को हमें अवश्य बता दीजिये। कभी-कभी कथा मे अधिक बैठने से उदर मे भारीपन हमारे भी हो जाता है।

यह सुनकर सूतजी हँस पडे और बोले—"अजी महाराज! आप तो विश्व को पचाने वाले हैं। आपके भारीपन क्या होगा। फिर भी मंत्र तो मैं बताये ही देता हूँ। औरों के काम आवेगा। वह यह है—

वातापी भक्षितो येन आतापी च निपातितः।
समुद्रः शोषितो येन स मेऽगस्त्यः प्रसीदतु॥

इस मत्र को पढो फिर खीर, हलुआ, मालपूआ जो चाहो चड़ाओ, सब स्वाहा।

इस प्रकार मुनियो! मैंने हिरण्यकशिपु के दो पुत्रों के वंश का वर्णन कर दिया अब अन्य पुत्रों के भी वंशों को सुनिये।

छप्पय

अनुह्राद की नारि भई सूर्या सुकुमारी।
तातें द्वै सुत भये बली सुररिपु अति भारी॥
प्रथम बाष्कल भयो द्वितिय महिषासुर मानी।
चढ़यो स्वर्ग पै बली भगे सुर तजि रजधानी॥
स्वर्ग छोड़ि सुर भगि गये, महिषासुर सुरपति भयो।
दुखित पराजित सुरनि मिलि, हाल जाइ विधि सन कह्यो॥

महिषासुर की कथा

(४३६)

अनुह्लादस्य सूर्म्यायां बाष्कलो महिषस्तथा।
विरोचनस्तु प्राह्लादिर्देव्यास्तस्याभवद् बलिः ॥❀

(श्री भा० ६ स्क० १८ अ० १६ श्लो०)

छप्पय

महिषासुर की सुनी बात विधि हू घबराये।
लैके देवनि सग तुरत श्रीहरि ढिँग आये॥
सम्मति करिकें तेज निकारयो सबने निज निज।
दुर्गादेवी भईं शक्ति दस दस धारें भुज॥
गर्जा तर्जा चडिका, आयुध लै रिपु ढिँग गईं।
महिषासुर कूँ मारिकें, जगत माँहि पूजित भईं॥

यह सम्पूर्ण ससार महामाया की शक्ति द्वारा ही सचालित हो रहा है। शक्ति के विना सर्वसमर्थ शिव भी शव के समान हो जाते हैं। ससार में सर्वत्र सर्व रूपो मे सर्वतो भावेन शक्ति ही व्याप्त है। ससार में जितने स्त्रीवाची पदार्थ हैं, वे सब शक्ति के ही स्वरूप हैं। उनके बिना पुलिङ्गवाची शब्दो

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! हिरण्यकशिपु के पुत्र अनुह्लाद की पत्नी का नाम सूर्म्या था। उसके गर्भ से बाष्कल और महिषासुर का जन्म हुआ। प्रह्लादजी का पुत्र विरोचन हुआ और विरोचन का पुत्र बलि हुआ।

का कोई महत्व नहीं। भगवती महामाया के अनन्त नाम हैं, उनके ब्रह्मादिक देवता भी पार नहीं पा सकते। शिवा, भद्रा, जगदम्बा, रौद्रा, नित्या, गौरी, धात्री, ज्योत्स्नामयी, चन्द्ररूपिणी, सुखस्वारूपा, शरणागतवत्सला, सिद्धिस्वरूपा, नैऋती, भूभृता, लक्ष्मी, शर्वाणी, दुर्गा, दुर्गपरा, सारा, सर्वकारिणी, ख्याति, कृष्णा, धूम्रा, सौम्या, रौद्ररूपा, जगदाधारभूता, कृति विष्णु माया आदि अनेक नामों से विश्व ब्रह्माण्ड में विख्यात हैं। उनके अनेक रूप है। उनके बिना विश्वब्रह्माण्ड की सृष्टि की, तीनों देवों की, चतुर्दशभुवनों की तथा चराचर जगत् की कल्पना भी नहीं की जा सकती। वे जगदीश्वर की जननी कहीं देवकी रूपमे दिखाई देती हैं, कहीं उन्हींकी सहोदरी माया बनकर भगिनी रूप में पूजी और मानी जाती है। कहीं श्रीकृष्ण को आह्लाद देने वाली श्र जी के रूप में चराचर विश्व को सुख देती हैं। वे धमपत्नी के रूप मे धम के पुत्रो को उत्पन्न करने वाली हैं, कहीं वे प्राणियों मे सुख संचार करने वाली शान्ति बन कर अवस्थित हैं। वे ही देवी तुष्टि, पुष्टि, स्मृति, शान्ति, कान्ति भ्रान्ति, शक्ति, वृत्ति, बुद्धि, जाति, व्याप्ति, लक्ष्मी, ईश्वरी, क्षुधा, तृष्णा, छाया, माया, निद्रा, चेतना, क्षमा, श्रद्धा, विशुद्धा, दया, आदि अनेक रूपों मे चराचर जगत् मे व्याप्त हैं। उनके सात्विकी राजसी तथा तामसी अनेक भेद होने पर भी वास्तव में वे मूल में एक ही हैं। रजोगुणी शक्ति सत्वगुणी शक्ति से दब जाती है और *तमोगुणी रजोगुणी* से। जब *भिन्न-भिन्न* शक्तियाँ काम नहीं देतीं, तब वही देवी सब शक्ति के प्रभाव से कठिन से कठिन कार्य को सरलता से कर लेती हैं दुर्जयसे दुर्जय शत्रु को सुगमता से जीत लेती हैं। जब यह क्रोध रूपी भैंसा हमारी समस्त दैवी वृत्तियों को दबाकर शरीर रूपस्वर्ग पर अपना

आधिपत्य जमा लेता है, तब हम अपने समस्त सद्गुणों विवेक शक्ति को उत्पन्न करते हैं। वही शक्ति समस्त शत्रुओं का शास्त्रों से सहार कर देती है। देवताओं की विजय हो जाती है। आत्मा का विनाश करने वाले जो काम, क्रोध तथा लोभ आदि प्रबल शत्रु हैं उनका चंडीदेवी विनाश कर देती हैं। तमोगुण से व्याप्त ऐश्वर्य के मद में मत्त हुए क्रूर असुरों के लिये वे कोमलाङ्गी होने पर भी रणरङ्गदुर्मदा बन जाती हैं। सुकुमारी होकर भी रणचंडी हो जाती हैं। वे अबला होने पर भी सबला बन जाती हैं। सिंह को वाहन बनाकर वे शत्रु पर झपटती हैं। उस समय वे फलाहार से उतना प्रेम नहीं करतीं उन्हें आमिष आहार प्रिय होता है। वे कुंकुम और अलाक्त से अपने मुख पर कृत्तिम लालिमा नहीं लगातीं। वे मधुपान करके अपने मुखमण्डल को रक्तरञ्जित सा बना लेती हैं। उस समय उन्हें मोतियों के हार प्रिय नहीं। वे नर मुण्डों की माला से ही अपने वक्षःस्थल को सुशोभित करती हैं। वे अपने खप्पर को शत्रु के उष्ण रक्त से भर लेती हैं और अत्यन्त प्रबल महिषासुर को चरणों के तले दबाकर नाश कर देती हैं। वे सबकी शक्ति से प्रकट होती हैं। सबके सम्मिलित अस्त्र शस्त्रों को धारण करती हैं। सबको साथ लेकर लड़ती हैं और विजय के सुख को स्वयं न भोगकर उसे देवताओं को अर्पण कर देती है। ऐसी सघ से उत्पन्न हुई महिषासुर मर्दिनी देवी के पादपद्मों में हमारा कोटिशः प्रणाम है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! हिरण्यकशिपु के तीसरे पुत्र अनुह्लाद की स्त्री का नाम सूर्म्या था। उसके गर्भ से बाष्कल और महा पराक्रमी महिषासुर उत्पन्न हुआ। राजन्! महिषासुर इतना बली था, कि युद्ध में कोई उसका सामना नहीं

कर सकता था। उसने युद्ध मे देवताओं के दाँत खट्टे कर दिये उन्हे स्वर्ग से निकाल दिया और स्वयं इन्द्र बनकर तीनों लोकों का शासन करने लगा। तब भगवती दुर्गा देवी ने प्रकट होकर उसका संहार किया।"

यह सुनकर शौनक मुनि ने पूछा—"सूतजी ! भगवती देवी कैसे प्रकट हुई ? उनमें स्त्री होकर इतना प्रबल पराक्रम कैसे आया। वे किसकी पुत्री थीं उनका विवाह किसके साथ हुआ। उन्होंने महिषासुर को क्यों मारा ? हमारे इन प्रश्नो का कृपा करके उत्तर दीजिये।"

इस पर सूतजी कहने लगे—"मुनिवर ! यह कथा बहुत लम्बी है। महामाया भगवती का चरित्र अनन्त है। यहाँ मैं भगवती की महिमा का वर्णन करूँगा, केवल जिस प्रकार देवी ने महिषासुर का मर्दन किया था, उसी कथा को कहूँगा।"

जब महिषासुर ने अपनी असुरों की बलवती सेना लेकर देवताओं पर चढ़ाई की और इन्द्र को जीतकर स्वर्ग के इन्द्रासन पर स्वयं बैठ गया, तब देवता अत्यन्त ही दुखी हुए। वो घरबार विहीन होकर पृथिवी पर मनुष्य की भाँति गुप्त रूप से विचरण करने लगे। देवता बड़े दुखी थे अन्त में वे सब मिलकर लोक पितामह ब्रह्माजी के समीप गये। ब्रह्माजी उन सबको लेकर शिवजी के पास गये और फिर शिवजी सबको साथ लेकर विष्णु भगवान् के निकट पहुँचे। देवताओं ने भगवान् से सब अपना आदि से अन्त तक दुख सुनाया। दैत्यों के ऐसे साहस को सुनकर सर्वेश्वर विष्णु को बड़ा क्रोध आया। भगवान् के क्रोध करते ही उनके श्री मुख से एक तेज निकला। फिर भगवान् रुद्र के मुख से भी तेज निकला। अब तो सभी देवता अपना अपना तेज उसमें मिलाने लगे। एक सूत के

धागे से पेड को बाँधो, तो टूट जायगा। यदि बहुत से धागे मिला कर बट दो तो फिर हाथी भी बाँध दो नहीं टूट सकता। "सात पाँच की लकडी एक जने का बोझ" सघ से महान् शक्ति उत्पन्न हो जाती है। अब तो वह सब तेज मिलने लगा। वह तपस्या त्याग शम, दम जनित सात्विकी तेज नहीं था। वह तो क्रोध से उत्पन्न हुआ वीरता पूर्ण रौद्र रस से प्लावित तेज था। ज्यों ज्यों तेज आकर भगवान के तेज में मिलता, त्यों त्यों वह एक मानवीय आकार से परिणित हो जाता था। भगवान् रुद्र का जो रौद्र तेज निकला उसने मुख का रूप धारण कर लिया। यम का तेज बालों के रूप मे परिणित हो गया। भगवान् विष्णु के तेज से वीरता पूर्ण बीस भुजायें बन गईं। चन्द्र के तेज से स्तन, इन्द्र के तेज से कटि प्रदेश, वरुण के तेज से जघा, पृथिवी के तेज से नितम्ब प्रकट हुए। ब्रह्मा के तेज से दोनों चरण, सूर्य के तेज से उँगलियाँ, कुबेर के तेज से नासिका, प्रजापतियों के तेज से दाँत, अग्नि के तेज से नेत्र, सन्ध्या के तेज से भौंहें, वायु के तेज से कान, तथा अन्यान्य देवों के तेज से अन्यान्य भाग उपन्न हुआ। अब तो वह तेजपुञ्ज एक परम वीरवती नारी के रूप मे प्रकट हुआ। सब देवों ने उस सर्वशक्तिमयी देवी के पाद पद्मों मे श्रद्धा भक्ति पूर्वक प्रणाम किया। उसे देखकर सभी देवता भगवती की जय हो, जय हो कहकर जय घोप करने लगे। उनकी जय जय की ध्वनि से सभी दिशायें भर गईं।

भगवती देवी ने सभी देवताओं की ओर कृपा भरी दृष्टि से देखकर कहा—"देवताओं! तुम लोगों ने मुझे क्यों स्मरण किया है ?'

देवताओं ने कहा—"जगदम्बे ! हम सब महिषासुर से बहुत सताये गये हैं, हमारी रक्षा करो। हमें अभयदान दो। हमारी

गई हुई श्री को हमे असुरों से दिला दो।"

देवी ने कहा—"देवताओं ! मैं तुम सबकी शक्ति से ही प्रकट हुई हूँ अब तुम सब मिलकर मुझे अपने अस्त्रों को और दो। तब मैं महिषासुर के मान को मर्दन करूँगी।"

देवी की यह बात सुनकर सभी सुरों ने सहर्ष उन्हें अपने अपने अस्त्रों से उसी की शक्ति वाले अस्त्र निकाल कर अर्पण किये। शिवजी ने शूल, विष्णु ने चक्र, वरुण ने शङ्ख, अग्नि ने शक्ति, वायु ने धनुष, तथा बाणों से भरे दो तर्कस। इन्द्र ने वज्र और घंटा, यम ने दण्ड, वरुण ने पाश, ब्रह्माजी ने कमण्डलु, प्रजापति ने स्फटिकाक्ष माला, सूर्य ने रोमों में तेज, काल ने ढाल तलवार, समुद्र ने उज्वल मुक्ताहार और दिव्य वस्त्र, चूडामणि, कुण्डल, कंकण, केयूर, नूपुर, अँगूठी तथा अन्य सभी अंगों के दिव्य आभूषण प्रदान किये। विश्वकर्मा ने फरसा कभी न कुम्हिलाने वाली मालायें, समुद्र ने क्रीडाकमल, हिमालय ने सवारी के लिये सिंह तथा बहुत से रत्न, कुबेर ने मधुपूर्ण पात्र शेष ने मणि मुक्ताओं से युक्त नागहार, कहाँ तक गिनावें सभी ने जिसके पास जो भी सुन्दर वस्तु थी, अपनी मातृभूमि के उद्धार के लिये, अपने गये हुए राज्य को लौटाने के लिये, जिस पर आततायी असुरों ने अन्याय पूर्वक अधिकार कर लिया था, देवी को अपनी सभी वस्तुएँ भेंट देकर उनका सम्मान किया, उनके उत्साह को बढाया।

देवताओं के द्वारा उत्साहित होकर महामाया अपने सिंह को नचाती हुई, फरसा और तोमरों को घुमाती हुई, अपनी वीरता से वीरता को भी लजाती हुई, पृथिवी को अपने तेज बल पौरुष से कँपाती हुई असुरों की ओर चली। दैत्यों ने जब देवी

को दूर से ही आते देखा, तो वे हक्के-बक्के रह गए। महिषा-सुर अपनी सेना को सुसज्जित करके देवी की ओर दौड़ा।

असुर ने देखा देवी की सहस्रों भुजाओं सहस्रों आयुध हैं। वह तेज पुंज के समान निर्भय होकर असुर सेना में घुसकर

उनका संहार कर रही है। तब तो असुर पूरी शक्ति लगाकर उनसे लड़ने लगे। चिक्षुर नामक एक परम पराक्रमशाली दैत्य उस महिषासुर की समस्त सेना का अधिनायक था। वह आगे आकर देवी से युद्ध करने लगा। महामाया ने अट्टहास करते-करते बात की बात में उसे यमपुर पहुँचा दिया। अब तो चामर, उदग्र, असिलोमा, वाष्कल आदि उनके सेनापति भगवती से लड़ने आये और वे बात की बात में अपने प्राणों को परित्याग करके यमपुर सिधार गये। कुछ को तो देवी अपने अस्त्र-शस्त्रों से मारती और कुछ को उनका सिंह ही दहाड़ से, पञ्जों से मार मारकर यमसदन पठा देता। इस प्रकार देवी के साथ दैत्यों का भीषण युद्ध हुआ। देवी अपराजिता थीं वे बराबर मधुपान करके क्रोध में भर जातीं और असुरोंकी सेनाका संहार करतीं। जब महिषासुर ने देखा मेरी सेना को देवी ने विध्वंस कर दिया है और उसमे भगदड़ मच गई है, तब तो वह स्वयं भैंसे का रूप धारण करके देवी के सम्मुख दहाड़ मारता हुआ और पैने पैने सींगों को हिलाता हुआ दौड़ा। उसने आते ही देवी के गणों को त्रास देना आरम्भ किया। तब देवी ने ललकार कर कहा—"अरे, दुष्ट! तुझे ही तो मैं इतनी देर से खोज रही थी। आज मैं तुझे तेरे किये का फल चखा-ऊँगी। आज तुझे मैं यमसदन पठाऊँगी।"

आज मैं तेरी चटनी बनाऊँगी, आज तुझे तेरे दर्प का फल चखाऊँगी तू तनिक मेरे सामने आ तो जा।" इतना सुनते ही महिषासुर अपने सींगों से बड़े २ पहाड़ों को उठाकर भगवती के वाहनसिंह के ऊपर फेंकने लगा। वह खुरों से पृथ्वी को खोद रहा था। मेघ की तरह सिंहनाद कर रहा था। वह अपनी स्वांस से फुफकार छोड़ रहा था। अपने समस्त पराक्रम को दिखाकर

भगवती को परास्त करना चाहता था। इतने में ही देवी ने एक झपट्टा मार कर उस भैंसे के रूप बनाये हुए असुर को पाश में बाँध लिया और दाँत पीसकर किटिकिटाती हुई तथा अट्टहास करती हुई बोलीं—"अब बता तू क्या करेगा ?"

इतने में ही उसने भैंसे का रूप त्याग दिया और वह बड़ा बली सिंह बन गया। देवी ज्यों ही उस सिंहरूप दैत्य का सिर काटना चाहती थीं, त्यों ही वह खड्गधारी मनुष्य बन गया, तब देवी ने ढाल तलवार उठाई और दूसरे हाथों से बाणों को छोड़कर उसके सम्पूर्ण शरीर को बाँध दिया। तब तो वह पुरुष का रूप त्याग कर हाथी बन गया और जगदम्बा के सिंह का अपनी सूँड में लपेट कर खींचने लगा। देवी ने ज्यों ही तारुण खड्ग से उसकी सूँड काटनी चाही त्यों ही वह फिर भैंसा बन गया। अब तो वह फिर वही पर्वतों को उठाकर-भगवती पर फेंकने लगा।

देवी का क्रोध पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था उन्होंने उछल कर उस दैत्य को धर दबोचा और पैरों के नीचे दबाकर ज्यों ही उसका सिर काटने लगीं, त्योंही वह फिर निकलने का प्रयत्न करने लगा। तब तो देवी को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने एक तरुण खड्ग से उसका सिर धड से अलग कर दिया। उस महिपासुर के मरते ही असुर सेना मे हाहाकार मच गया। देवता आकाश से भगवती पर पुष्पों की वृष्टि करने लगे। गन्धर्व गाने लगे, अप्सरायें नृत्य करने लगीं। आकाश में सभी चिल्ला रहे थ, 'भगवती की जय, महामाया की जय, जगदम्बिका भवानी की जय। बोल दे अटल छत्र की जय।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने अत्यत सक्षेप मे अनुहाद के पुत्र महिपासुर के वध की कथा कही। अब आगे

हिरण्यकशिपु के चौथे पुत्र महा भागवत् प्रह्लाद जी के वंश को आप सब सावधानी के साथ सुनें।"

छप्पय

दुर्गा देवी दया करहु दुख दुरित नसाओ।
शक्तिहीन संतान परीं माँ आय जगाओ॥
भये भवानी भीत आइ भय भूत भगाओ।
खड्ग हाथ महँ देहु युद्ध को पाठ पढाओ॥
कलि कराल कलुषित करहिं, करि कल्यान कपर्दिनी।
मेंटो ममता मोह कूँ, महिषासुर मद मर्दिनी॥

दिति से मरुतों की उत्पत्ति कैसे

(४४०)

मरुतश्च दितेः पुत्राश्चत्वारिंशन्नवाधिकाः ।
त आसन्नप्रजाः सर्वे नीता इन्द्रेण सात्मताम् ॥१

(श्री भा० ६ स्क० १८ अ० १९ श्लो०)

छप्पय

हिरनकशिपु लघु पुत्र भये दैत्यनि कुल भूषन ।
भक्त मुकुट प्रहलाद भये तिनि पुत्र विरोचन ॥
तिनि सुत दानी परम भये बलि जग विख्याता ।
जिनने कीये विष्णु द्वाररक्षक पुरत्राता ॥
बलि असना महँ जने सुत, शत सबके सब श्रेष्ठ हैं ।
तिन सब महँ शिवभक्त अति, बाणासुर ही ज्येष्ठ हैं ॥

प्रारब्ध का कैसा विचित्र चक्कर है, कोई कहीं उत्पन्न होता है और कहीं उसकी प्रसिद्धि होती है। उच्चकुल में भी नीच प्रकृति के पुरुष उत्पन्न हो जाते हैं और नीचकुल में भी भगवद्-भक्त महापुरुषों का जन्म हो जाता है। हम किसी भावना से कार्य करने चलते हैं। अन्त में उसका फल उसके सर्वथा विपरीत ही होता है। त्वष्टा ने इन्द्र को मारने वाला पुत्र उत्पन्न करना

---

१ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! ये ४९ मरुत् भी दिति के ही पुत्र हैं। ये सब पुत्र रहित थे इन सबको इन्द्र ने अपने सदृश ही बना लिया अर्थात् ये असुर से देवता हो गये।"

चाहा था, किन्तु भाग्यवश उत्पन्न ऐसा हुआ, जिसे इन्द्र ने ही मार डाला। ऐसी नित्य की घटनाओं को देखते-देखते मनीषियों ने यही निश्चय किया है, कि शक्ति भर पुरुषार्थ तो करना ही चाहिये। क्योंकि बिना पुरुषार्थ किये प्रारब्ध प्रकट ही नहीं होता, पता ही नहीं चलता यह हमारे प्रारब्ध में है या नहीं। फिर पूर्वजन्म के पुरुषार्थ से ही तो प्रारब्ध की रचना होती है इसलिये कर्म करते समय सोच लेना चाहिए हमारा अधिकार कर्म करने में है, फल ईश्वरेच्छा पर निर्भर है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! मैंने हिरण्यकशिपु के संह्लाद, अनुह्लाद और प्रह्लाद इन तीन पुत्रों के वंश का वर्णन आप से किया। अब उसके सबसे छोटे पुत्र परमभागवत प्रह्लाद जी के भी वंश का वर्णन सुनो। महाराज आप उत्सुक न हों, मैं भक्ताग्रगण्य प्रह्लाद जी का चरित्र आगे विस्तार के साथ कहूँगा यहाँ तो प्रसंगानुसार केवल उनके वंश का ही वर्णन करता हूँ।

प्रह्लादजी के पुत्र हुए विरोचन। ये परमब्रह्मण्य हुए इन्होंने ब्राह्मण बने देवताओं के माँगने पर अपने प्राणों तक को दे दिया उन्हीं विरोचन के पुत्र हुए दानियों में श्रेष्ठ महाराज बलि। ब ल के सदृश साहसी और दानी इस पृथिवी पर विरले ही हुए हैं। महाराज बलि की पत्नी अशना (रत्नावली) थी उनके गर्भ से १०० पुत्र हुए। उन सबों में बाणासुर ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हुए ये भगवान् भूतनाथ शकर के अनन्य भक्त थे। अपनी अनन्य शिव भक्ति के कारण ही इन्होंने शिवपार्षदों में प्रमुखता प्राप्त की। आगे इनका चरित्र विस्तार के साथ वर्णन किया जायगा। यह तो हिरण्यकशिपु के वंश का वर्णन हुआ। अब हिरण्याक्ष के वंश का भी वर्णन सुनिये।

भगवान् कश्यप के वीर्य से दिति के गर्भ से हिरण्यकशिपु

और हिरण्याक्ष दो पुत्र हुए। हिरण्याक्ष का विवाह रुषाभानु के साथ हुआ। उसके गर्भ से ९ पुत्र उत्पन्न हुए जिनके नाम शकुन, शम्बरासुर, धृष्ट, भूत सन्तापन, वृक, कालनाभ, महानाभ, हरिश्मश्रु और उत्कच थे। ये सबके सब परमवीर बड़े उत्साही सुरा के द्वेषी और महापराक्रमशाली थे। वैसे तो असुर बहुत हैं किन्तु दिति के दोनों पुत्रों के वंश का वर्णन मैंने तुमसे कर दिया यह सब मैंने इसलिये किया है, कि अब मुझे महाभागवत प्रह्लाद जी का चरित्र कहना है। उसीकी आप इसे भूमिका समझें। वैसे इन दैत्यों के वंशों के कीर्तन से तो हमारा कोई प्रयोजन है ही नहीं। जिन दैत्यों का भगवान् से वैर भाव से भी सम्बन्ध हो गया है या जो भगवद्भक्त हैं, उनका चरित्र भगवान् के सम्बन्ध से श्रवणीय और कथनीय बन गया है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! यह मैंने दिति के हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष दो पुत्रों का वंश कहा। इन दो के अतिरिक्त ४९ पुत्र दिति के और भी हैं जो ४९ मरुत् कहलाते हैं ये दिति के गर्भ से उत्पन्न होने पर भी दैत्य न कहाकर देवता कहलाते हैं। इन ४९ देवताओं का एक पृथक् गण ही है।"

यह सुनकर महाराज परीक्षित् ने कहा—"प्रभो ! यह तो आप बड़ी विचित्र बात बता रहे हैं। दिति के गर्भ से उत्पन्न होने पर भी मरुत् दैत्य न कहाकर देवता कैसे बन गये। प्रारब्ध का विचित्र खेल है। इस विषय को सुनने के लिये मुझे बड़ा कुतूहल हो रहा है, यदि आप उचित समझें तो इस प्रसंग को आप मुझे सुनावें। इन ४९ दिति के पुत्रों ने ऐसा कौन सा शुभकर्म किया था जिससे ये असुर कहाकर देवभाव को प्राप्त हो गये। इस बात से मैं ही आश्चर्यान्वित हुआ होऊँ, सो बात नहीं ! इस परिषद् में जितने ऋषि, महर्षि बैठे हैं; सभी को इस विषय को जानने के

लिये समुत्सुक से दिखाई देते हैं। अतः कृपा करके इस परम रहस्यमय उपाख्यान को हमें सुनाइये।"

महाराज परीक्षित् की ऐसी उत्सुकता देखकर व्यास नन्दन भगवान् श्रीशुकदेव अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। वे राजा की प्रश्न चातुरी से परम प्रमुदित हुए। महाराज के वचन विनय युक्त थे, थोड़े भी बहुत भाव को प्रकट करने वाले तथा सारगर्भित थे। ऐसे मनोरथ जिज्ञासा पूर्ण वचन सुनकर परमहंस चूड़ामणि श्रीशुक ने उनकी प्रशंसा की और कहने लगे—"राजन्! आपने यह बहुत ही उत्तम प्रश्न किया। इस उपाख्यान से भाग्य की विडम्बना और भगवान् की भक्तिवत्सलता प्रकट होती है। मैं इस परमपावन उपाख्यान को आपके सम्मुख कहता हूँ आप इन समस्त ऋषियों के सहित श्रवण कीजिए।"

महाराज! जब भगवान् ने सूकर रूप रख कर हिरण्याक्ष को और नृसिंह रूप से हिरण्यकशिपु को मार डाला, तब इन दोनों की माता दिति को अत्यन्त ही दुःख हुआ। उसने सोचा—"विष्णु तो समदर्शी हैं। उनका न कोई शत्रु है न मित्र। किन्तु हैं भोले भाले। प्रतीत होता वह अत्यधिक स्तुति प्रिय हैं, जो इनके साथ पीछे लगा रहता है उनकी स्तुति प्रशंसा करता रहता है, उस पर वे प्रसन्न हो जाते हैं और उनका पक्ष लेकर न करने योग्य अनुचित कार्यों को भी कर डालते हैं। मेरे पुत्र आत्माभिमानी थे, वे विष्णु के समीप जाते आते नहीं थे। ये इन्द्रादि देवता सदा विष्णु भगवान् के ही पीछे-पीछे घूमा करते हैं। उनकी हाँ में हाँ मिलाते रहते हैं। जो वे कहते हैं वह वे करते हैं, सब प्रकार से उनके अधीन रहते हैं। इन्होंने ही इधर-उधर की उलटी सी बातें भिड़ाकर विष्णु के कान भर दिये।

उन्हें मेरे पुत्रों के विरुद्ध उभार दिया। और स्वर्ग के सुख को निष्कंटक भोगने के निमित्त मेरे पुत्रों को मरवा डाला। यह सम्पूर्ण दोष इस शतक्रतु इन्द्र का ही है। अतः मेरा प्रधान शत्रु तो मेरी सौतिका लड़का यह इन्द्र ही है। यह बड़ा क्रूर है, इसका चित्त अत्यंत ही निष्ठुर है। अपने भाइयों की हत्या करा कर यह स्वर्गीय सुख भोगना चाहता है। भाइयों के रक्त रंजित विषयों को भोगकर यह सुखी होना चाहता है। यह बड़ा विषय-लोलुप पापात्मा और निर्दयी है। मुझे सभी प्रकार से ऐसा उद्योग करना चाहिये, कि किसी प्रकार यह पापी मारा जाय। इन्द्र मर जायगा तो मैं सुख से सोऊँगी। अपने मृत पुत्रों का बदला चुका कर प्रसन्न होऊँगी।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब किसी को किसी पर क्रोध आ जाता है, तो उसे उसमें सब बुराई ही बुराई दिखाई देने लगती हैं। द्वेष के कारण उसमें एक भी गुण नहीं दीखता। दिति तो पुत्र शोक से अंधी हो रही थी। उसका विवेक नष्ट हो गया था। वह सोचने लगी—"इन्द्र कितना नीच है। तनिक से सुख के लिये यह अपने एक ही पिता के पुत्रों को भाइयों को मरवा देता है। अरे, इस नाशवान् शरीर के पीछे हत्या कराना कहाँ तक उचित है। शरीर चाहे राजा का हो या रंक का सबकी तीन ही गति हैं। जला दिया तो मिट्टी राख होगई। कहीं जल में अरण्य में फेंक दिया तो सियार, कुत्ते, काक कछुए आदि जीवों ने खाकर मल बना दिया और पृथिवी में गाड दिया तो कीडे पड गये। इस तुच्छ शरीर के पालन पोषण के लिये प्राणियों की हिंसा करना यह पापियों का ही काम है। जो इन संसारी सुखों के लिये हिंसा करते हैं पाप करते, है, प्राणियों से द्वेष करते हैं, वैर-भाव स्थापित करते हैं, उन्हे तो चिरकाल तक नरकों की अग्नियों में

पचना पड़ेगा। यमसदन मे अनेकों भाँति की यातना सहनी पड़ेंगी। मेरे पुत्रों को मरवाने वाला यह इन्द्र ही है, यह जिस प्रकार मारा जाय, वही उद्योग मुझे करना चाहिए !"

फिर उसने सोचा—मै कौन सा ऐसा काम करूँ, कि इन्द्र मारा जाय। विष्णु की आराधना करूँ तो संम्भव है विष्णु इन्द्र का ही पक्ष लें। इसलिय मुझे अपने सर्वसमर्थ पति का ही आश्रय लेना चाहिये। उन्हें मैं अपना सेवा तथा हावभाव कटाक्षों द्वारा वश में लाऊँगा। उन्हें प्रसन्न करके उनसे ही एक ऐसा पुत्र माँगूगी जो इन्द्र का मारने वाला हो।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! स्त्रियाँ बड़े लगन की होती हैं। जिस बात का इन्हें लगन लग जाती है, उसमे ये तन्मय हो जाती हैं। फिर शरीर की सुधि-बुधि भूल जाती हैं। इनके मन की बात ता जानी नहीं जाती, किन्तु इनकी सेवा सुश्रूषा से पाषाण हृदय भी पिघल जाता है। किसी प्रकार से भी वश में न होनेवाला व्यक्ति भी इनकी सेवा चातुरी से वशमें हो जाता है। दिति भी अपने मन मे ऐसा निश्चय करके, परम अनुराग और विनय के साथ इन्द्रियों को वश मे करके निरन्तर अपने पति भगवान् कश्यप की सेवा मे तत्पर रहने लगी। वह पति के भावों को जानती थी पति को कौन सी बात किस समय प्रिय है इसका उसे ज्ञान था इसीलिए वह अपने उत्कृष्ट भावों द्वारा, मन्द-मन्द मुसकानमयी कटाक्ष भङ्गिमों द्वारा तथा मीठे और मनोहर वचनों द्वारा अपने पति को रिझाने लगी भला ऐसा कौन कृतज्ञ पुरुष होगा, जो अपनी पत्नी की ऐसी सेवासे उसके ऊपर प्रसन्न न हो जाय। कश्यपजी उसके चक्कर में फँस गये। प्रेम जाल मे फँसकर उसके अधीन होगये। उन्हें क्या

पता था, कि इसके भीतर कौन सा स्वार्थ भरा है। यह किस अभिप्राय से इस प्रकार सेवा कर रही है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं— महाराज, अपनी पत्नी की सेवा से सन्तुष्ट होकर भगवान् कश्यप उसे वरदान देने को प्रस्तुत हुए।

छप्पय

उनचास जे मरुत पुत्र ते ऊ दिति के हैं।
किन्तु भये नहिं दैत्य मरुद्गण सुर सब ते हैं॥
राजा पूछें—"दैत्य देवता भये विभो कस ?
असुर भाव कूँ त्यागि राग सुरपति कीयो कस ?
श्रीशुक बोले—भूपवर ! दिति के द्वै जब मरे सुत।
शत्रु इन्द्र बध के निमित, पति सेवा महँ भइ रत॥

दिति की पति से इन्द्रहन्ता पुत्र की याचना

२४१

वरदो यदि मे ब्रह्मन् पुत्रमिन्द्रहणं वृणे।
अमृत्युं मृतपुत्राहं येन मे घातितौ सुतौ॥❀

(श्री भा० ६ स्क० १८ अ० ३७ श्लो०)

छप्पय

मन्द-मन्द मुसकाइ मधुर वर बोले बैंना।
कजरारे अनुराग नयन के छोड़े सैंना॥
प्रतिपल पति मुख जोहि भाव कूँ समुझि सयानी।
करे काज अनुकूल सदा ई रहै सिहानी॥
त्रिया चरित समुझ्यो नहीं, मुनि मोहित से ह्वै गये।
सुठि स्वाभाव सेवा निरखि, अति प्रसन्न दिति पै भये॥

हृदय मे जब द्वेष की अग्नि भडक उठती है, तब अपने पराये का विवेक नष्ट हो जाता है। जब हृदय मे क्रूरता आ जाती है और उस क्रूरता को जो किसी साधु पुरुष के द्वारा पूरी

❀ श्रीशुक बोले—"राजन्! भगवान् कश्यप के प्रसन्न होने पर उनसे वरदान माँगती हुई दिति कहती है—"हे ब्रह्मन्! यदि आप मुझे वर देना ही चाहते हैं, तो ऐसा वर दीजिये कि मेरे एक ऐसा पुत्र हो, जो स्वय तो अमर हो किन्तु उस इन्द्र को मार सके, जिसने मेरे हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु दोनों पुत्रों को मरवाकर मुझे पुत्रहीन बना दिया है।"

कराना चाहते हैं, तो कुछ काल के लिये स्वार्थी लोग साधु के स्वभाव के ही अनुरूप बन जाते हैं। वे अपने मनको वशमें करके, चित्त को चंचल नहीं होने देते। इन्द्रियों पर संयम रखते हैं। सभी सुखों को तिलाञ्जली दे देते हैं। उस साधु पुरुष के सर्वथा अधीन हो जाते हैं। मनस्वी पुरुषों के समान सुख दुख में समान भाव से रहकर अपने इष्ट की पूर्ति में सदा सचेष्ट रहते हैं। तभी तो मनीषियों ने स्वार्थी और मनस्वी दोनों को एक सा बताया है। दोनों में अन्तर इतना ही है। कि मनस्वी लोग उसे हृदय से करते हैं और सदा करते रहते हैं। स्वार्थी कार्यार्थी बनावटी भाव से करते हैं, और तभी तक वे मन को वश में करके उस कार्यको करते हैं, जब तक वह कार्य सिद्ध न हो जाय। कार्य के सिद्ध हो जाने पर वे निवृत्त हो जाते हैं। अपना यथार्थ रूप प्रकट कर देते हैं। जहाँ पोल खुली कि महापुरुष उसकी धूर्तता को समझ जाते हैं। ऐसे लोगों का कल्याण नहीं होता। उन्हें पीछे पछताना पड़ता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! दिति ने अपने पति भगवान् कश्यप की ऐसी सेवा की, कि वे उसके वश में हो गय। वे उसका अभिप्राय तो समझ न सके, कि यह मेरे त्रैलोक्य वन्दित ज्येष्ठ श्रेष्ठ पुत्र स्वर्ग के अधिपति इन्द्र को मारनेके लिये सेवा कर रही है। इसकी मीठी वाणी में विष भरा है। इसका मुझे लुभाने के लिये मधुर संगीत उसी प्रकार है। जैसे बहेलिनी मृग को फँसाने के लिये वीणा बजाकर मधुर स्वर से गाती है मादक तान छोड़ती है। वे उसके वश में हो गया।"

इस पर राजा परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो! भगवान कश्यप तो विद्वान थे, विचारवान् थे, वे इसके मायाजाल में कैसे फँस गये?"

यह सुनकर हँसते हुए श्रीशुक बोले—"राजन्! यह स्त्री

रूपी महामाया ऐसी बलवती है, कि बड़े-बड़े योगी भी इसके चक्कर में फँस जाते हैं। फिर यह सेवा इतनी मोहक वस्तु है, कि सेवा करके मनुष्य चाहे जिसे वश में कर सकता है। संसार मे जितनी मोहक वस्तुएँ हैं उन सबमे यह स्त्री रूपी माया सबसे अधिक मोहक है। इसका उठना, बैठना, बोलना, चालना, चलना चितवन, मुसकाना, कोप, रुदन, स्पर्श, वाणी कहाँ तक कहें सभी चेष्टायें हृदय को प्रिय लगने वाली हैं। यदि फिर वह रूपवती और बुद्धिमती हो, तब तो ब्रह्माजी को भी वश में करने में समर्थ है। साधारण लोगों की तो बात ही क्या। स्त्री की सेवा से कैसा भी वज्रहृदय पुरुष होगा, वह भी वश मे हो जायगा। फिर भगवान् कश्यप जैसे सहृदय मुनि की तो बात ही क्या ? सेवा से सन्तुष्ट हुए पुरुष से स्त्री जो चाहे सो करा सकती है। न तो ऐसा करा लेना बुद्धिमती स्त्री के लिये कोई आश्चर्यकी बात है और न स्त्री मे आसक्त हुए पुरुष के लिये कुछ भी कार्य कर देना आश्चर्य है। ब्रह्माण्ड को रचने वाले ब्रह्माजी भी इस चक्कर में आ गये ?"

इस पर राजा ने पूछा—"भगवन् ! इस नारी जाति में इतनी मोहकता कैसे आई ?

हँसकर श्रीशुकदेवजी बोले—"राजन् ! यह सब इन चार मुँह वाले बूढ़े बाबा की बोई विष की बेल है। जैसे मनुष्य सोचता है मुक्ति के लिये, उससे और बन्धन हो जाता है। बात यह थी। सृष्टि के आदि में ब्रह्माजी को सृष्टि बढ़ाने की बड़ी चिन्ता थी। उन्होंने बहुत से ऋषि मुनि आदि की मानसी सृष्टि उत्पन्न की। जिसे उत्पन्न करें वही जाकर तप में लग जाय। भगवान् के ध्यान में निमग्न हो जाय। कोई किसी से सम्बन्ध ही न रखे। सबको एकान्त बड़ा प्यार लगे।' इससे ब्रह्माजी

अत्यधिक चिन्तित हुए, वे सोचने लगे। ऐसी सृष्टि कैसे बढ़ सकती है। इन ध्यान करने वाले बाबाजियों से सृष्टि बढ़ाने की क्या आशा की जाय। बहुत सोचने पर भी ब्रह्माजी की समझ में कोई बात आई नहीं तब भगवान् ने ही उनके मन में प्रेरणा करी कि कोई ऐसी मोहक वस्तु बनाओ कि जिसके कारण मनुष्य बन्धन मे फँस जाय। एकान्त प्रियता को छोड़कर उसके संग के लिये लालायित रहे। इस विचार के आते ही ब्रह्माजी के शरीर के दो भाग हो गये। एक तो नाक में नथ पहिने काली चोटी को हिलाते छम्म छम्म करके इधर से उधर मद के साथ घूमने लगी। दूसरा उसके ऊपर अनुरक्त होकर उसके चरणों के चिन्हों का अनुकरण करने लगा। वह नथ वाला मोहक भाग ही स्त्री के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसीलिये स्त्री को अर्धाङ्गिनी कहा है। स्त्री के बिना पुरुष आधा है और पुरुष के बिना स्त्री आधी है। दोनो मिल कर ही एक होते हैं और एक से ही फिर अनेक हो जाते हैं। चना के आधे भाग को भूमि में बोओ वह कभी भी अंकुरित पुष्पित फलित न होगा। इन दोनों भागों में स्त्री भाग अधिक आकर्षक है। उसे देखते ही ऋषि मुनि माला झोली छोड़कर गृहस्थी बनने को लालायित होगये। बस, ब्रह्माजी की गाड़ी चल निकली, संसार चक्र घूमने लगा। पुरुष पागल हो कर नारी के संकेत पर नाचने लगा। सो, राजन्! इसमें आप आश्चर्य न करें। नारी की लगन से की हुई सेवा अत्यधिक मोहक होती ही है। आप तो मुक्त भोगी हैं क्यों होती है न ?"

लज्जित होकर महाराज परीक्षित् ने कहा—"हाँ, भगवन्! शास्त्रकारों के अनुभव मिथ्या थोड़े हैं। ऐसी ही बात है। अच्छा तो फिर क्या हुआ ?"

श्रीशुकदेवजी ने कहा—"राजन्! होता और क्या जब

हिरन जाल में फँस जाता है, तो उसका मनमाना उपयोग किया ही जाता है। एक दिन भगवान् कश्यप उसकी स्नेहमयी सेवा से सन्तुष्ट होकर उससे कहने लगे—"प्रिये। मैं तुम्हारे शील स्वभाव से तुम्हारी सच्ची लगन से की हुई सेवा से—परम सन्तुष्ट हूँ। हे भामिनि! हे अनिन्दिते! तुम मुझसे कोई वर मांगो। तुम दुर्लभ से दुर्लभ भी वर मॉगोगी तो मैं उसे तुम्हे दूँगा।"

प्रम के मान से मुनि के मन के मोहती हुई वह भामिनी वोली—"रहने दो महाराज! आप वरदान फरदान क्या दोगे। आप मुझे इसी प्रकार प्यार करते रहे, यही मेरे लिये वहुत है। आप के कहने से मैंने कोई वात मांगी और आप उसे न दे सके तो दोनो की वात जायगी इसलिये ऐसे ही ठीक है।"

अपनी वात पर वल देते हुए मुनि ने कहा—प्रिये! तुम कैसी वाते कर रही हो तुम्हे मेरे ऊपर विश्वास नहीं है क्या ?"

इस पर अदिति ने कहा—"महाराज, विश्वास की तो कोई वात नहीं। मुझे भय है, मैंने कोई दुर्लभ वस्तु मांग ली तो आप को संकोच में पड़ना पड़ेगा।"

अत्यंत स्नेह के साथ सम्पूर्ण ममता वटोर कर भगवान् कश्यप वोले—"प्रिये! तुम मुझसे वर मांगने मे संकोच मत करो। पति के प्रसन्न हो जाने पर सती स्त्री के लिये कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं। फिर चाहे वह इस लोक की हो, या परलोक की मैं तुम्हारे समस्त मनोरथों को पूर्ण करूँगा।"

इस पर भक्ति दिखाती हुई दिति वोली—"प्रभो! आप, ही तो हमारे पूजनीय आराधनीय और इष्ट, हैं। ससार में आपके अतिरिक्त हमारा और कौन है ?"

इस पर भगवान् कश्यप ने कहा—"प्रिये! मैं क्या हूँ।

पूजनीय तो वे सर्वान्तर्यामी श्री हरि ही हैं। वे भगवान् वासुदेव ही सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तःकरण में विराजमान् होकर नाम रूप के भेद से कल्पना किये गये हैं। भगवान् को जो जिस भाव से भजते हैं, वे उन्हें उसी भाव से दर्शन देते हैं। किसी भी देवता की उपासना क्यों न करो, सब रूप में ये ही अखिलेश अच्युत पूजे जाते हैं। सती साध्वी स्त्रियाँ उन्हीं को पति रूप से पूजा करती हैं। इसलिये तुम जो अर्चना वन्दना कर रही हो, मेरे पाँच भौतिक शरीर की नहीं, उन्हीं अन्तर्यामी श्रीहरि की पूजा कर रही हो तुमने निष्कपट भाव से अपने शरीर के सुखों को छोड़कर मेरी पूजा की है इस लिए आज मैं तुम्हारी सम्पूर्ण इच्छाओं को पूर्ण करूँगा। तुम मुझसे जो चाहो वर माँग लो। इस बात में सदेह ही मत करो, कि मेरी इच्छा पूरी होगी या नहीं। तुम अपनी इच्छा को पूर्ण हुई ही समझो।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब दिति ने सब प्रकार से भगवान् कश्यप को अपने वश में देखा तब वह अपने हृदय पर पत्थर रखकर विष से भरे मधुर वचन बोली। उनसे कहा—"ब्रह्मन्! यदि आप हृदय से मुझसे प्रसन्न हैं, मुझे वर देना ही चाहते हैं, तो मैं एक पुत्र आप से चाहूँगी।"

महामुनि कश्यपजी ने कहा—"बस, इतनी ही छोटी सी बात के लिए तुम इतनी भूमिका बाँध रही थीं। यह कौन सी बात है एक नहीं ।

बीच में ही बात काटकर दिति बोली—' नहीं ब्रह्मन्! मैं ऐसा वैसा साधारण पुत्र नहीं चाहती। मेरे विश्वविजई, परम पराक्रमी, त्रैलोक्य विख्यात, हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष दोनों पुत्रों को इस अधम इन्द्र ने मरवा दिया है। अब के मैं

ऐसा पुत्र चाहती हूँ, जो इन्द्र को मारने वाला हो। मेरी सौति के इस समृद्धिशाली, ईर्ष्यालु, सम्पत्ति असहिष्णु शतक्रतु को जो यमपुर पहुँचा दे। ऐसा प्रबल पराक्रमी पुत्र मुझे दें।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! दिति के ऐसे वचनों को सुनकर भगवान् कश्यप तो सन्न रह गये। वे कुछ भी न कह सके। न तो उनसे हाँ कहते बना और न निषेध ही कर सके।"

छप्पय

बोले दिति ते प्रिये माँगु वर इच्छित मोतें।
तव सेवा लखि तुष्ट भयो भामिनि हौं तोतें॥
हैं प्राननितें अधिक पियारे निजपति जिनिकूँ।
तब जग महँ फिरि कौन वस्तु है दुर्लभ तिनिकूँ॥
माँगे वर हिय वज्र करि, दिति लखि पति अति प्रीति युत।
जो मारे देवेन्द्रकूँ, अमर एक अस देहिं सुत॥

कश्यपजी का दुखित होकर नीतिपूर्वक वर देना

(४४२)

पुत्रस्ते भविता भद्रे इन्द्रहा देववान्धवः ।
संवत्सरं व्रतमिदं यद्यञ्जो धारयिष्यसि ॥❀
(श्रीभा० ६ स्क० १८ अ० ४५ श्लो०)

छप्पय

दिति के वर कूँ सुनत भये व्याकुल कश्यप मुनि ।
हाय कहा हौं करयो भयो परवश सोचें पुनि ॥
नारि चरित अति प्रबल वयन सर बड़े कँटीले ।
कमल कुसुम के सरिस मधुर मुख बैन रसीले ॥
छुरधारा के सरिस हिय, जो चाहें जे करि सकें ।
क्रुद्ध भये पति पुत्र के, प्राननि कूँ हू हरि सकें ॥

क्रोध पाप का मूल बताया है। क्रोधित हुआ पुरुष हो या स्त्री दोनों ही अपने आपे में नहीं रहते, उनके सिरपर भूत सवार हो जाता है, वे कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञान को खो देते हैं। स्त्रियाँ

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् कश्यपजी ने पश्चात्ताप करने के अनन्तर दिति से कहा—हे भद्रे ! इन्द्र का मारने वाला तेरे पुत्र तभी हो सकेगा, जब तू एक संवत्सर विधिपूर्वक इस व्रत का पालन कर सके। नहीं तो वह देवताओं का बन्धु होगा।

जितनी ही कोमलाङ्गी होती हैं, कुपित होने पर वे उतनी ही कठोर हो जाती हैं। अपने स्वभाव में स्थित रहने पर ये जितनी ही दयामयी ममतामयी और प्रेममयी होती हैं, यदि ये प्रतिकूल स्वभाव वाली बन जायें तो उतनी ही निर्दयी क्रूरस्वभाव वाली और वज्रहृदया हो जाती हैं। स्त्रियों में प्रायः अस्थिरता और चंचलता पुरुषों की अपेक्षा अधिक होती है। शील संकोच और सदाचार में स्थिति रहने वाली स्त्री ही नारी है, इन्हें जो परित्याग कर देती हैं, वे रणचण्डी बन जाती हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब दिति ने अपने पति भगवान् कश्यप से इन्द्र को मारने वाला पुत्र वरदान में माँगा, तब तो मुनि धर्मसंकट में पड़ गये। अब उनकी आँखें खुलीं। अब वे सब रहस्य को समझ गये। अरे, यह तो स्वार्थ की सेवा थी, कपट का प्रेम था, बनावटी स्नेह था यह तो कनक घट में विष भरा हुआ निकला। अब मैं क्या करूँ? यदि मैं इसे वरदान देता हूँ; तब तो अपने सर्वश्रेष्ठ, देवताओं के अधीश्वर त्रैलोक्य वंदित-पुत्र के बध का भागी हूँगा। मर कर नरकों की यातनायें सहनी पड़ेंगीं। यदि कहकर-प्रतिज्ञा करके भी—मैं इसे वर नहीं देता तो मैं झूठा पड़ूँगा। झूठ से बढ़कर संसार में दूसरा कोई पाप नहीं।"

मेरी कुबुद्धि तो देखो। मैं इन्द्रियलोलुप होकर इस चपला के चाक्यचिक में ऐसा फँस गया, कि अपने आपे को ही भूल गया। इस मुनिमनमोहिनी महिला रूपी माया ने मेरे मन को भी मथित कर दिया। मुझे भी कठपुतली बनाकर इच्छानुरूप नचा दिया।

ये स्त्रियाँ जब तक बालिका रहें; तभी तक प्यारी रहती हैं, या ये यथार्थ में सती धर्म में स्थित रहें तब। इसके

अतिरिक्त जहाँ ये मनमानी करने लगी, जहाँ ये स्वच्छन्द गामिनी हुई, तहाँ इनमें विवेक नहीं रहता। मन में जो आ जाता है उसे ही अनेकों उपायों से कर लेती हैं। देखने में बड़ी भोली-भाली सरला दिखाई देती हैं। भीतर चाहे कितना भी रागद्वेष भरा हो। हृदय में चाहे पैनी छूरी कतरनी चल रही हो, किन्तु ऊपर से काली-काली घुँघराली लटोंसे आवृत शरदकालीन कमल कुसुम के सदृश अपने मनोहर मुख को मंद-मंद मुस्कानसे सदा प्रफुल्लित बनाये रखेंगी। वाणी ऐसी बोलेंगी मानो अमृत रस में पागे हुए ही बोल हों। इन्हें जिससे अपनी अभिलाषा पूर्ण करानी होगी, उसके इतने अनुकूल बन जायँगी कि प्राणों से अधिक प्रियतमा दिखाई देंगी। किन्तु ऐसी स्वार्थ में तत्परा, कुलटा स्त्रियों का कोई भी अपना सगा नहीं। कोई भी सम्बन्धी नहीं। कोई भी प्रिय नहीं कोई भी बन्धु बान्धव नहीं। ये अपने स्वार्थ के लिये पति पुत्र, पिता, भाई तथा चाहे जिस सम्बन्धी की हत्या करा सकती हैं। सती तो पति की होती ही हैं किन्तु कामिनी किसी की भी नहीं होतीं।"

इतना सोचते-सोचते मुनि फिर दूसरी बात विचारने लगे। उन्होंने सोचा—"अरे! इसमें इसका क्या दोष? मैं इस एक के पीछे समस्त स्त्रियों को क्यों कोस रहा हूँ। अपना ही दाम खोटा न होगा, तो परखने वाला उसे खोटा कैसे कह सकेगा। दूसरा कोई सुख दुख नहीं दे सकता। मनुष्य अपनी वासना में ही बँधकर पाप का भागी बनता है। यदि मैं अजितेन्द्रिय न होता, अपनी इन्द्रियों पर मैंने संयम किया होता, तो आज यह नौबत ही क्यों आती। मैं तो विषय भोगों में फँस गया। स्त्री सुखको ही सर्वस्व समझ कर उसके अधीन हो गया। इसके मिथ्या प्रेम में तन्मय होकर अपने वास्तविक स्वार्थ को भूल गया। इस बिचारी का क्या

दोष ? दोष तो मेरा ही है। मैंने ही बार बार इसे वरदान के लिये प्रेरित किया उत्साहित किया, और विवश किया। मुझे धिक्कार है। मेरे तप, संयम, अग्निहोत्र व्रत आदि सभी को धिक्कार है जो मैं स्त्रैण हो गया। मेरा मन स्त्री जनित सुख में फँस गया।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार भगवान् कश्यप स्त्री पुरुष दोनों के ही काम की निन्दा करते हुए दुखी हुए। उन्होंने धैर्य धारण किया और फिर सोचने लगे—"अच्छा, अब जो हुआ सो हुआ। अब मैं क्या करूँ। क्या इसे वर दे दूँ? नहीं, मैं ऐसा वर नहीं दे सकता। कोई ऐसा उपाय सोचूँ जिससे मेरा वचन भी सर्वथा मिथ्या न हो और इन्द्र का भी वध न हो। यद्यपि है तो यह कपट सा ही, किन्तु ऐसे अवसरों पर यह क्षम्य है। वरदान के साथ ऐसा कोई नियम लगा दूँ, कि न वह पूरा हो, न इन्द्र का मारने वाला पुत्र पैदा हो। न नौ मन काजर आवे न राधा नाचे। "न बाजा आवे न घटा बाजे" यह सब सोच साच कर भगवान् कश्यप उस से बोले—"प्रिये! तुम्हारे इन्द्र का मारने वाला पुत्र हो तो सकता है, किन्तु इसके साथ एक प्रण है।

दिति ने पूछा—"वह क्या भगवन्?"

भगवान् कश्यप बोले—"वह यह कि मैं तुम्हें एक व्रत बताऊँगा। यदि एक वर्ष तक तुम उस व्रत को निर्विघ्न धारण कर सको—वह व्रत बिना किसी विघ्नबाधा के पूरा हो सके, तब तो तुम्हारे गर्भ से इन्द्र का मारने वाला पुत्र हो सकता है यदि व्रत में कुछ त्रुटि हो गई, कोई छिद्र रह गया, तो उसका परिणाम उलटा होगा, वह इन्द्र हन्ता न होकर देवताओं का बन्धु बन जायगा।"

दृढताके स्वर मे दिति ने कहा—"ब्रह्मन् ! मैं सब कुछ करने मे समर्थ हूँ। आप मुझे उस व्रतकी शिक्षा दीक्षा दीजिए। आप जैसे बतावेंगे वैसे ही मैं बडी सावधानी के साथ उस व्रत को करूँगी। किसी प्रकार का विघ्न न होने दूँगी। पहिले तो मुझे यह बताइये कि इस व्रत मे करना क्या होगा। अर्थात पहिले तो विधि का वर्णन करें, फिर निषेध कार्यों को भी बतावें अर्थात् कौन सा कार्य न करे जिसके करने से व्रत भग हो सकता है ?"

यह सुनकर भगवान् कश्यप बोले—"प्रिये ! तुम पुंसवन नामक व्रत करो। प्रातःकाल अरुणोदय मे उठना चाहिये। शौच आदि नित्यकर्मों से निवृत होकर विधिवत् स्नान करना चाहिये स्नान करके शुद्ध शुभ्र धुले हुए वस्त्र धारण करने चाहिये। रोली कुकुम आदि सर्व सौभाग्य चिन्हो का धारण करना चाहिये। बार-बार भोजन न करना चाहिये। बिना कुछ खाये गौ, ब्राह्मण और लक्ष्मी सहित श्रीमन्नारायण का पूजन करना चाहिये। भगवान् के पूजन अनन्तर सौभाग्यवती स्त्रियो का गंधमाला, धूप दीप नैवेद्यादि से पूजन करना चाहिये। तदनतर इसी प्रकार श्रद्धासहित पति का भी पूजन करे। पति की आज्ञा का कभी उल्लघन न करे, सदा उसकी सेवा में तत्पर रहे, उसके अनुकूल आचरण करे। और निरतर इस बात का ही चिंतन करती रहे, कि इनका तेज मेरी कुक्षि में विराजमान है। ये ही एक मूर्ति से मेरे उदर मे अवस्थित हैं। ये पु सवन व्रत के सदाचार हैं। व्रत का उपदेश तो मैं पीछे करूँगा। ये तो उसमे कर्तव्य कार्य हैं।

इस पर दिति ने कहा—"ब्रह्मन् ! आपने व्रत के कर्तव्य कार्यों का निर्देश तो कर दिया, अब मैं यह सुनना चाहती हूँ, कि कौन सा कार्य इस व्रत में न करना चाहिये। निषिद्ध आचरणों को मुझे

ओर बता दीजिये। जिससे व्रत भग न हो सके। ये तो परम आवश्यक हैं।"

इस पर भगवान् कश्यप बोले—"देखो, इतनी बातों पर सावधानी से दृष्टि रखनी चाहिये इन कार्यों को कभी न करे।

१—कभी किसी प्राणी की हिंसा न करे।
२—क्रोध के वशीभूत होकर किसी को शाप न दे।
३—कभी भी झूठ न बोले। मौन रहे या सत्य भाषण करे।
४—नख और रोमों को व्रत में न काटे।
५—जो अमङ्गल अशुचि वस्तु है। उनका स्पर्श न करे। जल को लेकर उसी से स्नान करे।
६—जल के भीतर घुसकर स्नान न करे।
७—भूल कर भी क्रोध न करे।
८—जो दुष्ट स्वभाव के पुरुष हैं उन दुर्जनों से संभाषण न करे।
९—जो वस्त्र धुला हुआ न हो उसे धारण न करे।
१०—दूसरे पुरुषों की पहिनी उच्छिष्ट मालाओं को न पहिने।
११—किसी का भी जूठा अन्न न खावे।
१२—जो अन्न भद्रकाली को निवेदित कर दिया हो, उसे न खाय।
१३—मांसयुक्त भोजन को भूल से भी न खाय।
१४—जिस बने हुए अन्न को शूद्र लाया हो, उसे भी न खाय।
१५—जिस अन्न को रजस्वला स्त्री ने देख लिया हो, उसे भी न खाय।
१६—दोनों हाथों की अजलि बाँध कर पस से भर कर जल न पिये।
१७—जूठे मुँह कभी घर से बाहर न निकले।
१८—भोजन करके जब तक आचमन न कर ले, तब तक बाहर न जाय।

१९—प्रात और सायकालीन दोनों सध्याओं के समय घर से न निकले। उस समय भगवद् ध्यान मे ही तल्लीन रहे।

२०—बिना चोटी बॉधे खुले बालों से निर्लज्ज स्त्रियो की भॉति बाहर न जाय।

२१—बिना सौभाग्यवती के चिन्हो के धारण किये बिना शृगार किये घर से बाहर न हो।

२२—बाहर जाय तो वाणी का बडी सावधानी से सयम करे कोई मिथ्या, कडवी, अप्रिय बात न कहे।

२३—बिना वस्त्र पहिने या एक वस्त्र से बाहर न निकले।

२४—शैया पर सोते समय पैर धोकर ही सोवे।

२५—जूठे मुख या और किसी प्रकार की अपवित्रता हो, तो उसी दशा मे शैयापर न सोवे। पवित्र होकर आचमन करके सोवे।

२६—गीले पैरो से भूल कर भी शयन न करे। पैर धोकर उन्हे भली भॉति पोंछ कर तब सैया पर पैर रखे।

२७—उत्तर या पश्चिम की ओर सिर करके कभी भी न सोवे, जब सोवे तब या तो पूर्व की ओर या दक्षिण की ओर सिर करके सोवे।

२८—किसी दूसरे की शैया पर अथवा दूसरे के साथ भी न सोवे।

२९—नग्न होकर भूलकर भी शयन न करे।

३०—प्रातः सन्ध्या के समय और सायकालीन सन्ध्या के समय कभी भी न सोवे।

इस प्रकार तीस निषिद्ध बाते हैं। इन्हे बचाकर यदि तुम एक वर्ष तक विधिवत् पु सवन व्रत करोगी, तो तुम्हारा मनोरथ

पूर्ण हो जायगा। यदि इनमें से कोई भी विघ्न हो गया, तो उसका फल प्रतिकूल हो सकता है।

यह सुनकर दृढ़ता के स्वर में दिति ने कहा—"ब्रह्मन्! इनमें तो कोई भी कठिन बात नहीं है। इनका तो प्रायः मैं वैसे ही पालन करती हूँ। ये तो सदा पालनीय सदाचार की सुन्दर शिक्षायें हैं। मैं इन पालन करने योग्य नियमों का पालन करूँगी और त्याग करने वाली बातों से सर्वथा बचूँगी। आप मुझे पुंसवन व्रत का उपदेश कीजिये।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! दिति के स्वीकार कर लेने पर भगवान् कश्यप ने उसे विधिवत् पुंसवन व्रत की शिक्षा दीक्षा दी। उसके शास्त्रीय विधि से गर्भाधान संस्कार किया। भगवान् कश्यप का अमोघ तेजयुक्त वीर्य दिति के गर्भ में उसी प्रकार बढ़ने लगा जैसे आकाश मे शुक्लपक्ष का चन्द्रमा बढता है। अपने पति से गर्भ धारण करके दिति बडी सावधानी से व्रत के नियमों का पालन करने लगी।

छप्पय

सोचि कहें व्रत एक बताऊँ तोइ पुंसवन।
करे ताहि निर्विघ्न होहि इच्छित सुत शोभन॥
होहि तनिकहू छिद्र फेरि सुत सुरप्रिय होवे।
यदि है कें अपवित्र जूठ मुख तें तू सोवे॥
सदाचार पालन करे, कदाचार कूँ त्यागी कें।
व्रत वैष्णव यदि वर्ष भर, करे समय पर जागि कें॥

इससे आगे की कथा उन्नीसवें-खण्ड में पढ़िये:—

भारतीय संस्कृति और शुद्धि

क्या अहिन्दु हिन्दु बन सकते हैं ?

आज सर्वत्र बलात् धर्म परिवर्तन हो रहा है। हिन्दु समाज से लाखों स्त्री पुरुष सदा के लिये निकल कर विधर्मी बन रहे हैं, कुछ लोगों का हठ है कि जो अहिन्दु बन गये हैं वे सदा के लिये हिन्दु समाज से गये, फिर वे हिन्दु हो ही नहीं सकते ! श्री ब्रह्मचारी जी ने पुराण, स्मृति इतिहास और प्राचीन ग्रन्थों के प्रमाणों से यह सिद्ध किया है, कि हिन्दु समाज सदा से अहिन्दुओं को अपने में मिलाता रहा है। जब से हिन्दु समाज ने अन्य सम्प्रदाय वालों के लिये अपना द्वार बन्द किया है; तभी से उसका ह्रास होने लगा है। बड़ी ही सरल सुन्दर भाषा मे शास्त्रीय विवेचन पढ़कर अहिन्दुओ को हिन्दु बनाइये। अपने समाज की उन्नति कीजिये। सुन्दर छपाई सफाई युक्त ७५ पृष्ठ की पुस्तक केवल ३१ पैसे मात्र।

शोक शान्ति

[श्री ब्रह्मचारीजी का एक मनोरंजक और तत्व ज्ञान पूर्ण पत्र]

इस पुस्तक के पीछे एक करुण इतिहास है। मदरास के गुंटूर प्रान्त का एक परम भावुक युवक श्री ब्रह्मचारीजी का परम भक्त था। अपने पिता का इकलौता अत्यन्त ही प्यारा दुलारा पुत्र था। वह त्रिवेणी सङ्गम पर अकस्मात स्नान करते समय डूब कर मर गया। उसके संस्मरणों को ब्रह्मचारीजी ने बड़ी ही करुण भाषा मे लिखा है। पढ़ते-पढ़ते आँखें स्वतः बहने लगती हैं। फिर एक साल के पश्चात् उसके पिता को बड़ा ही तत्व ज्ञान पूर्ण ५०।६० पृष्ठों का पत्र लिखा था। उस लिखे पत्र की हिन्दी और अङ्गरेजी मे बहुत सी प्रतिलिपियाँ हुईं उसे पढ़कर बहुत से शोक संतप्त प्राणियों ने शान्तिलाभ की इसमें मृत्यु क्या है इसका बड़े ही सुन्दर ढंग से मनोरञ्जक कथायें कह कर वर्णन किया गया है, लेखक ने निजी जीवन के दृष्टान्त देकर पुस्तक को अत्यन्त उपादेय बना दिया है अक्षर-अक्षर मे विचारक लेखककी अनुभूति भरी हुई है। उसने हृदय खोलकर रख दिया है। एक दिन मरना सभी को है अतः सब को मृत्यु का स्वरूप समझ लेना चाहिये, जिन्हें अपने सम्बन्धी का शोक हो, उनके लिये तो यह रामबाण औषधि है। प्रत्येक घर मे एक पुस्तक का रहना आवश्यक है। ६४ पृष्ठ की सुन्दर पुस्तक का मूल्य ०.३१ न० पै० मात्र है। आज ही मँगाने को पत्र लिखे समाप्त होने पर पछताना पड़ेगा।